बी० ए० (प्रतिष्ठा) तृतीय खण्ड
विषय - हिन्दी षष्ठ पत्र

क्र०सं०	पाठ का नाम	इकाई संख्या	पृष्ठ
	त्रिवेणी		
1	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - लेखक परिचय	1	3
2	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का युग	2	9
3	शुक्ल पूर्व हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास	3	17
4	हिन्दी आलोचना और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	4	28
5	आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति	5	37
6	आलोचना : शास्त्रीय विवेचन	6	46
7	भक्ति आन्दोलन - आचार्य शुक्ल का विचार	7	55
8	भक्तिकालीन परिवेश या परिस्थितियाँ	8	67
9	भक्तिकालीन काव्यधाराएँ	9	77
10	भक्तिकालीन विचारधाराएँ	10	93
11	भक्तिकाल के प्रमुख कवि	11	102
12	भक्तिकाल की विशेषताएँ	12	113
13	मलिक मुहम्मद जायसी : विवेचन	13	125
14	महाकवि सूरदास : विवेचन	14	138
15	गोस्वामी तुलसीदास : विवेचन	15	147
	ध्रुवस्वामिनी		
16	हिन्दी नाटक : तात्त्विक विवेचन	16	152
17	हिन्दी नाटक उद्‌भव और विकास	17	161
18	हिन्दी नाटक और प्रसाद	18	176
19	जयशंकर प्रसाद : लेखक परिचय	19	187
20	ध्रुवस्वामिनी : कथानक, चरित्र-चित्रण, देशकाल	20	196
21	ध्रुवस्वामिनी : ऐतिहासिकता और कल्पना	21	203
22	ध्रुवस्वामिनी : रंगमंचीयता	22	209

क्र०सं०	पाठ का नाम	इकाई संख्या	पृष्ठ
23	ध्रुवस्वामिनी की समस्या	23	216
24	ध्रुवस्वामिनी का उद्देश्य	24	222
25	ध्रुवस्वामिनी का मूल्यांकन	25	226
26	ध्रुवस्वमिनी - संवाद, शिल्प एवं भाषा	26	236
27	ध्रुवस्वामिनी का चरित्र-चित्रण	27	244
28	ध्रुवस्वामिनी और प्रसाद की नाट्यकला	28	249
29	ध्रुवस्वामिनी : महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या	29	254
	लहरों का राजहंस		
30	हिन्दी नाटक और रंगमंच आन्दोलन	30	267
31	मोहन राकेश : व्यक्तित्व और कृतित्व	31	276
32	हिन्दी रंगमंच आन्दोलन में मोहन राकेश का योगदान	32	286
33	हिन्दी नाटक और मोहन राकेश की रचना दृष्टि	33	295
34	लहरों का राजहंस : कथावस्तु	34	304
35	लहरों का राजहंस : चरित्र चित्रण	35	311
36	लहरों का राजहंस : ऐतिहासिकता	36	321
37	लहरों का राजहंस : रंगमंचीयता	37	329
38	लहरों का राजहंस : समस्या	38	336
39	लहरों का राजहंस : दर्शन	39	345
40	लहरों का राजहंस : प्रतीकात्मकता	40	354
41	लहरों का राजहंस : सामयिक चेतना	41	361
42	लहरों का राजहंस : शिल्प-विधान	42	367
43	लहरों का राजहंस : संवाद योजना या कथोपकथन	43	374
44	लहरों का राजहंस : मूल्यांकन	44	380
45	लहरों का राजहंस : महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या	45	391

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : लेखक परिचय

पाठ संरचना

1.0 उद्देश्य
1.1 परिचय
1.2 व्यक्तित्व
1.3 कृतित्व
1.4 अभ्यास के प्रश्न

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से छात्रों को अवगत कराना है । हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वही स्थान और महत्त्व है जो हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द और हिन्दी कविता के क्षेत्र में सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का । आलोचना के माध्यम से आचार्य शुक्ल ने भी उसी सामंती संस्कृति का विरोध किया था, जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द और निराला ने किया था ।

1.1 परिचय

आचार्य शुक्ल साहित्य का एक सुनिश्चित मानदण्ड एवं समीक्षा की एक विकसित पद्धति लेकर अवतरित हुए । शुक्ल ने स्थूल नैतिकता या भौतिक लाभ-हानि के प्रश्न को त्याग कर साहित्य की सूक्ष्म शक्ति, भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति को साहित्य की कसौटी के रूप में अपनाया था । उन्होंने न तो भारतवर्ष के रूढ़िवाद को स्वीकार किया था, न ही पश्चिम के व्यक्तिवाद को । बाह्य जगत् और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य-सिद्धांतों की उन्होंने स्थापना की और उसी के आधार पर सामंती साहित्य का विरोध किया ।

1.2 व्यक्तित्व

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म बस्ती जिले के अगोना नाम गाँव में सन् 1884 ई० में हुआ था । सन् 1888 ई० में वे अपने पिता के साथ राठ जिला हम्मीरपुर गए तथा वहीं पर विद्याध्ययन प्रारंभ किया । सन् 1892 ई० में उनके पिता की नियुक्ति मीरजापुर में सदर कानूनगो के रूप में हो गई और वे पिता के साथ मीरजापुर आ गए । अध्ययन के क्षेत्र में पिता ने इनपर उर्दू और अँग्रेजी पढ़ने के लिए जोर दिया तथा पिता की आँख बचाकर वे हिन्दी भी पढ़ते रहे । सन् 1901 ई० में उन्होंने मिशन स्कूल से स्कूल फाइनल की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा प्रयाग के कायस्थ पाठशाला इण्टर कॉलेज में एफ० ए० पढ़ने के लिए आए । गणित में कमजोर होने के कारण शीघ्र ही उसे छोड़कर 'प्लीडरशिप'

की परीक्षा पास करनी चाही, उसमें भी वे असफल रहे । परन्तु इन परीक्षाओं की सफलता या असफलता से अलग वे बराबर साहित्य, मनोविज्ञान, इतिहास आदि के अध्ययन में लगे रहे । मीरजापुर के पं० केदारनाथ पाठक और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के संपर्क में आकर उनके अध्ययन अध्यवसाय को और बल मिला । यहीं पर उन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत एवं अंग्रेजी के साहित्य का गहन अनुशीलन प्रारंभ कर दिया, जिसका उपयोग वे आगे चलकर अपने लेखन में जमकर कर सके ।

मीरजापुर के तत्कालीन कलक्टर ने उन्हें एक कार्यालय में नौकरी भी दी थी, पर हेड क्लर्क से उनके स्वाभिमानी स्वभाव की पटी नहीं । उसे उन्होंने छोड़ दिया । फिर कुछ दिनों मीरजापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक रहे । सन् 1909-10 ई० के लगभग वे हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादन में वैतनिक सहायक के रूप में काशी आ गए - यहीं पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा के विभिन्न कार्यों को करते हुए उनकी प्रतिभा चमकी । नागरी प्रचारिणी पत्रिका का संपादन भी उन्होंने कुछ दिन किया था । कोश का कार्य समाप्त हो जाने के बाद शुक्ल जी की नियुक्ति हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस में हिन्दी के अध्यापक के रूप में हो गई । वहाँ से एक महीने के लिए वे अलवर राज्य में भी नौकरी के लिए गए, पर रुचि का काम न होने से पुन: विश्वविद्यालय लौट आए । 1937 ई० में वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए एवं इस पद पर रहते हुए ही सन् 1941 ई० में उनकी हृदय गति बन्द हो जाने से मृत्यु हो गयी ।

1.3 कृतित्व

शुक्ल जी का साहित्यिक व्यक्तित्व विविध पक्षोंवाला है । उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में लेख लिखे हैं और फिर गम्भीर निबन्धों का प्रणयन किया है जो 'चिन्तामणि' में संकलित हैं । उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली में फुटकर कविताएँ लिखीं तथा एडविन आर्नाल्ड के 'लाइट ऑफ एशिया' का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद 'बुद्ध चरित' के नाम से किया । मनोविज्ञान, इतिहास, संस्कृति, शिक्षा एवं व्यवहार संबंधी लेखों एवं पत्रिकाओं के भी अनुवाद किए हैं तथा जोसेफ एडिसन के 'प्लेजस ऑफ इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से एवं राखाल दास वन्द्योपाध्याय के 'शशांक' उपन्यास का भी हिन्दी में रोचक अनुवाद किया । उन्होंने सैद्धान्तिक समीक्षा पर लिखा, जो उनकी मृत्यु के पश्चात् संकलित होकर 'रस मीमांसा' नाम की पुस्तक में विद्यमान है तथा तुलसी, जायसी की ग्रन्थावलियों एवं 'भ्रमर गीतसार' की भूमिका में लम्बी व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखीं, जिनमें से दो 'गोस्वामी तुलसीदास' का तथा 'महाकवि सूरदास' अलग से पुस्तक रूप में भी उपलब्ध हैं । शुक्ल जी ने 'हिदी साहित्य का इतिहास' लिखा, जिससे काव्य प्रवृत्तियों एवं कवियों का परिचय भी है और उनकी समीक्षा भी । दर्शन के क्षेत्र में भी उनकी 'विश्व प्रपंच' पुस्तक उपलब्ध है । पुस्तक यों तो 'रिडल ऑफ दि यूनिवर्स' का अनुवाद है पर उसकी लंबी भूमिका शुक्ल जी द्वारा किया गया मौलिक प्रयास है । इस प्रकार शुक्ल जी ने साहित्य में विचारों के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । इस सम्पूर्ण लेखन में भी उनका सबसे महत्त्वपूर्ण एवं कालजयी रूप समीक्षक, निबन्ध-लेखक एवं साहित्यिक इतिहासकार के रूप में प्रकट हुआ है ।

नलिन विलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक 'साहित्य का इतिहास दर्शन' में कहा है कि शुक्ल जी से बड़ा समीक्षक सम्भवत: उस युग में किसी भी भारतीय भाषा में नहीं था । यह बात विचार करने पर सत्य प्रतीत होती है, बल्कि ऐसा लगता है कि समीक्षक के रूप में शुक्ल जी अब भी अपराजेय हैं । अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद उनका

पैनापन उनकी गम्भीरता एवं उनके बहुत से निष्कर्ष एवं स्थापनाएँ किसी भी भाषा के समीक्षा-साहित्य के लिए गर्व का विषय बन सकती है ।

अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्वयं रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, ''इस तृतीय उत्थान (सन् 1918 ई० से) में समालोचना का आदर्श भी बदला । गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्त: प्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया'' (पृ० 516, ग्यारहवाँ संस्करण) । कहना न होगा कि कवियों की विशेषताओं एवं उनकी अन्त:प्रवृत्ति की छानबीन की ओर ध्यान, सबसे पहले शुक्ल जी ने दिया है । इस प्रकार हिन्दी समीक्षा को अपेक्षित धरातल देने में सबसे बड़ा हाथ उनका ही रहा है । समीक्षक के रूप में शुक्ल जी पर विचार करते ही एक तथ्य सामने आ जाता है कि उन्होंने अपने पद्धति को युगानुकूल नवीन बनाया था । रस और अलंकार आदि का प्रयोग अपने समीक्षात्मक प्रयासों में शुक्ल जी से पहले के लोगों ने भी किया था, पर उन्होंने इस सिद्धान्तों की मनोविज्ञान के आलोक में एवं पाश्चात्य शैली पर कुछ ऐसी अभिनव व्याख्या दी कि ये सिद्धान्त समीक्षा से बहिष्कृत न होकर पूरी तरह स्वीकार कर लिए गए । इस प्रकार जहाँ उन्होंने एक ओर अपनी आलोचनाओं का ढाँचा भारतीय रहने दिया है, वहीं पर उसका बाह्य रूप एवं रचना-विधान पश्चिम से लिया है । कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि यह निर्णय करना कठिन है कि उनकी समीक्षा में देशी और विदेशी तत्त्वों का मिश्रण किस अनुपात में हुआ है । इस संबंध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस पद्धति का प्रयोग उन्होंने तुलसी, सूर या जायसी जैसी श्रेष्ठ कवियों की समीक्षाओं में ही नहीं, अपने इतिहास में छोटे कवियों पर भी उतनी ही सफलता से किया है ।

रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षक-व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता या महानता है कि उन्होंने मानदण्ड-निर्धारण और उनका प्रयोग दोनों कार्य एक साथ किए हैं तथा इस दोहरे कार्य में कथनी और करनी का अन्तराल कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, बल्कि यों कहें कि अपने मनोविकारों वाले निबन्धों में जीवन, साहित्य और चर्चा के मध्य जो सम्बन्ध देखा था, उसी के आधार पर उन्होंने अपनी समीक्षा के मानदण्ड निर्धारित किए एवं इन सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग उन्होंने फिर किया । सिद्धान्त एवं व्यवहार के मध्य ऐसी संगति श्रेष्ठतम आलोचकों में ही प्राप्त होती है ।

उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता समसामयिक काव्य-चिन्तन सम्बन्धी जागरूकता है । उन्होंने जिन साहित्य-मीमांसकों एवं रचनाकारों को उद्धृत किया है, उनमें से अधिकांश को आज भी हिन्दी के तमाम आचार्य और स्वनामधन्य आलोचक नहीं पढ़ते । सम्भवत: रामचन्द्र शुक्ल उन प्रारंभिक व्यक्तियों में से होंगे, जिन्होंने इलियट और कालरीज जैसे रचनाकारों का भारत में पहली बार उल्लेख किया है । 1935 ई० में इन्दौर के हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (चिन्तामणि, द्वितीय भाग पृ० 248) में इस जागयकता के सबसे अधिक दर्शन होते हैं । उन्होंने जे० एस० फिलण्ट की चर्चा की है तथा हेराल्ड मुनरो की तारीफ की है तथा कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी के अध्यापकों द्वारा लिखित सद्य: प्रकाशित आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह की उद्धरणी दी है ।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि पहली बार हिन्दी में शुक्ल जी ने सामाजिक-मनोवैज्ञानिक आधार पर किसी कवि की विवेचना करके आलोचना को एक 'व्यक्तिता' प्रदान की । उसे जड़ से गतिशील किया । एक ओर उन्होंने सामाजिक सन्दर्भ को महत्त्व प्रदान किया एवं दूसरी ओर रचनाकार की व्यक्तिगत मन:स्थिति का हवाला दिया ।

शुक्ल जी के व्यक्तित्व का एक गुण यह भी है कि वे श्रुति नहीं, मुनि-मार्ग के अनुयायी थे । किसी भी मत,

विचार या सिद्धान्त को उन्होंने बिना अपने विवेक की कसौटी पर कसे स्वीकार नहीं किया । यदि उनकी बुद्धि को वह ठीक नहीं जँचा, तो उसके प्रत्याख्यान में तनिक भी मोह नहीं दिखाया । इसी विश्वास के कारण वे क्रोचे, रवीन्द्र, कुन्तक, ब्लेक या स्पिनगार्न की तीखी समीक्षा कर सके थे ।

आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने सदैव लोक-संग्रह की भूमिका पर काव्य को परखना चाहा है तथा लोकसंग्रह संबंधी धारणा में उनकी मध्यवर्गीय तथा कुछ मध्ययुगीन नैतिकता एवं स्थूल आदर्शवाद का भी मिश्रण था । इस कारण उनकी आलोचना यत्र-तत्र स्खलित भी हुई है ।

शुक्ल जी ने अपने समीक्षादर्श में 'एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना' काव्य का लक्ष्य माना है तथा इस प्रेषणा के द्वारा मनुष्य की 'सजीवता' के प्रमाण मनोविकारों को परिष्कृत करके उनके उपयुक्त आलम्बन लाने में उसकी सार्थकता और सिद्धि देखी है । कवि की अनुभूति को सम्पूर्ण विश्व में समझने के कारण उन्होंने कविकर्म के लिए यह महत्त्वपूर्ण माना कि ''वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को ड़ालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे'' इस कसौटी की ही अगली परिणति है कि ऐसी भाव दशाओं के लिए अधिक अवकाश होने के कारण उन्होंने महाकाव्य को खण्ड-काव्य या मुक्तक-काव्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया । कुछ इसी कारण 'रोमांटिक', 'रहस्यात्मक' या 'लिरिकल' संवेदना वाले काव्य को वे उतनी सहानुभूति नहीं दे सके हैं ।

शुक्ल जी असाधारण वस्तु-योजना अथवा ज्ञानातीत दशाओं के चित्रण के पक्षपाती भी इसीलिए नहीं थे कि उनसे प्रेषणीयता में बाधा पहुँचती है । इस सिद्धान्त के स्वीकरण के फलस्वरूप साधारणीकरण के सम्बन्ध में कुछ नई व्याख्या देते हुए उन्होंने 'आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण' माना । यह उनके स्वतंत्र काव्य चिन्तन तथा अपने अध्ययन (विशेष रूप से तुलसी के अध्ययन) के द्वारा प्राप्त निष्कर्ष का परिचायक भी है । अपनी क्लासिकल रस-दृष्टि के कारण ही उन्होंने काव्य में कल्पना को अधिक महत्त्व नहीं दिया । अनुभूति-प्रसूत भावुकता उन्हें स्वीकार्य थी, कल्पना-प्रसूत नहीं । इस धारण के कारण ही वे छायावाद जैसे काव्यान्दोलनों को उचित मूल्य नहीं दे सके । इसी कारण युद्ध चमत्कार एवं अलंकार वैचित्र्य को भी उन्होंने निम्न कोटि प्रदान की । अलंकार का काम 'वस्तु-निर्देश' नहीं है । इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने लाक्षणिकता, औपचारिकता आदि को अलंकार से भिन्न शैलीतत्त्व के अन्तर्गत माना है । काव्य-शैली के क्षेत्र में उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापना बिम्ब ग्रहण को श्रेष्ठ मानने संबंधी है, वैसे ही जैसे कि काव्य वस्तु के क्षेत्र में प्रकृति-चित्रण संबंधी विशेष आग्रह उनकी अपनी देन है ।

शुक्ल जी ने काव्य को कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के समकक्ष रखते हुए 'भावयोग' कहा जो मनुष्य के हृदय को मुक्तावस्था में पहुँचाता है । काव्य को 'मनोरंजन' के हल्के-फुल्के उद्देश्य से हटाकर इस गम्भीर दायित्व को सौंपने में उनकी मौलिक एवं आचार्य-दृष्टि द्रष्टव्य है । वे 'कविता को शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध' स्थापित करनेवाला साधन मानते हैं । वस्तुतः काव्य को व्यक्ति के शील विकास का महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम साधन उन्होंने माना ।

नवीन साहित्य रूपों एवं चरित्रविधान की नई परिपाटियों के कारण उन्होंने अपने रस-सिद्धान्त में केवल साधारणीकरण का ही नए सिरे से विवेचन नहीं किया, साथ ही 'रसात्मक बोध के विविध रूपों' की चर्चा करते हुए अपेक्षाकृत हीनतर रस-दशाओं या 'शील-वैचित्र्य' बोध का भी विचार किया है । वर्ण्य-विषय की दृष्टि से विभाजन किया है । काव्य के अतिरिक्त उन्होंने अपने इतिहास में निबन्ध, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि साहित्यरूपों के स्वरूपों पर भी संक्षिप्त पर महत्त्वपूर्ण सर्वांगीण विचार प्रकट किए हैं ।

शुक्ल जी की समीक्षा का मूलस्वर यद्यपि व्याख्यात्मक है, पर आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने आंकलन संबंधी निर्णय लेने में साहस की कमी नहीं दिखाई । इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनके 'इतिहास' का आधुनिककाल से संबंधित अंश है । यह अवश्य है कि इन निर्णयों या व्याख्याओं में उनकी वैयक्तिक एवं वर्गगत आग्रह तथा उस युग तक की इतिहास दृष्टि की सीमाएँ थीं । वस्तुत: शुक्ल जी समीक्षा के प्रथम उठान के चरम विकास थे और आगे जिन लोगों ने उनका अनुगमन किया, वे प्रभावशाली नहीं बन सके । जिन्होंने उस परम्परा को छोड़ा, वही महत्त्वपूर्ण हुए । शुक्लजी की समीक्षा दृष्टि की सम्भावनाएँ बहुत विकासशील नहीं थीं ।

रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रथम साहित्यिक इतिहास लेखक हैं, जिन्होंने मात्र कवि-वृत्त संग्रह से आगे बढ़कर 'शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगठित काल-विभाग'' की ओर ध्यान दिया (''हिन्दी साहित्य का इतिहास'' रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० 1) ।

इस प्रकार उन्होंने साहित्य को 'शिक्षित जनता' के साथ सम्बद्ध किया और उनका इतिहास केवल कवि-जीवनी या 'ढीले सूत्र में गूँथी आलोचनाओं' से आगे बढ़कर सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से संकलित हो उठा । उनके 'कवि' मात्र व्यक्ति न रहकर, परिस्थितियों के साथ आबद्ध होकर जाति के कार्यकलाप को भी सूचित करने लगे । इसके अतिरिक्त उन्होंने सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर कालविभाजन और उन युगों का नामकरण किया । इस प्रवृत्ति-साम्य एवं युग के अनुसार कवियों को समुदायों में रखकर उन्होंने 'सामूहिक प्रभाव' की ओर भी ध्यान आकर्षित किया । वस्तुत: उनका समीक्षक रूप यहाँ पर भी उभर आया है और उनकी रसिक दृष्टि कवियों के काव्य सामर्थ्य के उद्घाटन में अधिक प्रवृत्त हुई है, तथ्यों की खोजबीन की ओर कम । यों साहित्यिक प्रवाह के उत्थान-पतन का निर्धारण उन्होंने अपनी लोक-संग्रहवाली कसौटी पर करना चाहा है, पर उनकी इतिहास दृष्टि निर्मल नहीं थी । यह उस समय तक की प्रबुद्ध वर्ग की इतिहास संबंधी चेतना की सीमा भी थी । शीघ्र ही युग और कवियों के कार्य-कारण सम्बन्ध की असंगतियाँ सामने आने लगीं । जैसे कि भक्तिकाल के उद्भाव संबंधी उनकी धारणा बहुत शीघ्र अयथार्थ सिद्ध हुईं । वस्तुत: साहित्य को शिक्षित जन नहीं, सामान्य जन-चेतना के साथ सम्बद्ध करने की आवश्यकता थी । उनका औसतवाद का सिद्धान्त भी अवैज्ञानिक है । इस अवैज्ञानिक सिद्धान्त के कारण ही उन्हें कवियों का एक फुटकल खाता भी खोलना पड़ा था । यदि वे युगों के विविध अन्तर्विरोधों को प्रभावित कर सके होते तो ऐसी असंगतियाँ न आतीं ।

रामचन्द्र शुक्ल का तीसरा महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व निबन्धकार का है । उनके निबन्धों के सम्बन्ध में बहुधा यह प्रश्न उठाया गया है कि वे विषयप्रधान निबन्धकार हैं या व्यक्तिप्रधान । वस्तुत: उनके निबन्ध आत्मव्यंजक या भावात्मक तो किसी प्रकार भी नहीं कहे जा सकते - हाँ, इतना अवश्य है कि बीच-बीच में आत्मपरक अंश आ गए हैं । पर उनके निबंध अत्यन्त गहरे रूप में बौद्धिक एवं विषयनिष्ठ हैं । उन्हें हम ललित निबन्ध की कोटि में नहीं रख सकते । पर इन निबन्धों में जो गम्भीरता, विवेचन में जो पाण्डित्य एवं तार्किकता तथा शैली में जो कसाव मिलता है, वह इन्हें अभूतपूर्व दीप्ति दे देता है । वास्तव में निबन्धों के क्षेत्र में शुक्लजी की परम्परा हिन्दी में बराबर चलती जा रही है । इसे यों भी कहा जा सकता है कि उनके निबन्धों के आलोकपुंज के समक्ष कुछ दिनों के लिए ललित भावात्मक निबन्धों का प्रणयन एकदम विरल हो गया । उनके महत्त्वपूर्ण निबन्धों को मनोविकार सम्बन्धी, सैद्धान्तिक

समीक्षा सम्बन्धी एवं व्यावहारित समीक्षा सम्बन्धी तीन भागों में बाँटा जा सकता है – यद्यपि इनमें आन्तरिक सम्बन्ध सूत्र बना रहता है । इनमें भी प्रथम प्रकार के निबन्ध शुक्ल जी के महत्तम लेखन के अन्तर्गत परिगणनीय हैं ।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी ग्रन्थावली' तथा 'बुद्धचरित' की भूमिका में क्रमशः अवधी तथा ब्रजभाषा का भाषा शास्त्रीय विवेचन करते हुए उनका स्वरूप भी स्पष्ट किया है । अनुवादक के रूप में उन्होंने 'शशांक' जैसे श्रेष्ठ उपन्यास तथा 'बुद्धचरित' जैसे काव्य का अनुवाद किया है । अनुवाद के रूप में उनकी शक्ति या निर्बलता यह थी कि उन्होंने अपनी प्रतिभा या अध्ययन के बल पर उनमें अपेक्षित परिवर्तन कर लिए हैं । 'शशांक' मूल बंगला में दुःखान्त है, पर उन्होंने उसे सुखान्त बना दिया है । अनुवादक की इस प्रवृत्ति को आदर्श भले ही न माना जाए पर उसके व्यक्तित्व की शक्ति एवं जीवन का प्रतीक अवश्य माना जा सकता है ।

साहित्यिक इतिहास लेखक के रूप में उनका स्थान हिन्दी में अत्यन्त गौरवपूर्ण है, निबन्धकार के रूप में वे किसी भी भाषा के लिए गर्व के विषय हो सकते हैं तथा समीक्षक के रूप में तो वे हिन्दी में अप्रतिम हैं अभी तक ।

1.4 अभ्यास के प्रश्न

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व का संक्षेप में उल्लेख कीजिए ।
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व और कृतित्व का विवेचन कीजिए ।
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कृतित्व का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का युग

पाठ संरचना

2.0 उद्देश्य
2.1 परिचय
2.2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-युगीन आलोचना की प्रवृत्तियाँ
2.3 शुक्लयुगीन अन्य आलोचक एवं आलोच्य कृतियाँ
2.4 अभ्यास के प्रश्न

2.0 उद्देश्य

द्विवेदी युगीन सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षा छायावादी युग में विकसित और समृद्ध हुईं । छायावादी युग में इसका श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है, जिसके कारण इस युग को शुक्लयुगीन आलोचना के नाम से जाना जाता है । इस इकाई का उद्देश्य इस युग की आलोचना की प्रवृत्तियों, प्रमुख आलोचक और उनकी आलोच्य कृतियों से परिचय कराना है ।

2.1 परिचय

द्विवेदी युग में समालोचना का मार्ग प्रशस्त हो गया था, किन्तु वह आलोचना बहिरंग बातों तक ही सीमित थी । उसमें स्थायी साहित्य में परिणत होनेवाली समालोचना, जिसमें किसी कवि की अंतवर्ती का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषता दिखाई जाती है, बहुत ही कम दिखाई पड़ी । समालोचना की यह कमी शुक्लयुगीन हिन्दी आलोचना विशेषत: आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक आलोचना से दूर हुई । इस युग में आलोचकों का ध्यान गुण-दोष कथन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अंत:वृत्ति की छानबीन की ओर गया । शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना में अपना विशिष्ट व्यक्तित्व स्थापित किया और वे एक ऐसे आलोचक में प्रतिष्ठित हुए जिसमें सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा का उत्कृष्ट रूप दिखाई पड़ता है ।

आचार्य शुक्ल के साथ-साथ हिन्दी आलोचना को समर्थ और गतिशील बनानेवाले आलोचकों में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, बाबू गुलाम राम, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, केसरी नारायण शुक्ल, पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी, आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

2.2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-युगीन आलोचना की प्रवृत्तियाँ

शुक्लयुगीन आलोचना में 1. स्वच्छन्दतावादी, 2. प्रभाववादी, 3. सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक, 4. शास्त्रीय या

सैद्धांतिक, 5. अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना का विकास हुआ ।

1. स्वच्छन्दतावादी आलोचना - स्वच्छन्दतावादी आलोचना का विकास हिन्दी की छायावादी काव्यधारा के मूल्यांकन के साथ हुआ । पुराने आचार्यों ने छायावादी काव्य की नवीन चेतना को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा और न ही उसका ठीक से मूल्यांकन किया । छायावादी कवियों ने अपने काव्य के समुचित मूल्यांकन के लिए जहाँ अपने काव्य सिद्धान्तों और मान्यताओं को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया, वहीं नए आलोचकों को प्रेरित एवं प्रभावित करके छायावादी या स्वच्छन्दतावादी काव्यालोचना का मार्ग प्रशस्त किया । रस सिद्धान्त के मनोवैज्ञानिक व्याख्या के साथ-साथ काव्य भाषा, काव्य बिम्ब, शैली विज्ञान आदि पर भी जो काम किया है वह हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना को समृद्ध करनेवाला है ।

2. प्रभाववादी - आचार्य शुक्ल के आलोचना क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का प्रचार हो रहा था, जिसके सामने न कोई विशेष आदर्श था और न ही कोई विशेष सिद्धान्त । अपनी-अपनी रूचि के अनुसार अपने-अपने ढंग से जिसे चाहे बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न हो रहा था । किन्तु आचार्य शुक्ल साहित्य का एक सुनिश्चित मानदण्ड एवं समीक्षा की एक विकसित पद्धति लेकर अवतरित हुए । उन्होंने स्थूल नैतिकता या भौतिक लाभ-हानि के प्रश्न को त्याग कर साहित्य की सूक्ष्म शक्ति-भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति को साहित्य की कसौटी के रूप में अपनाया । उन्होंने शताब्दियों प्राचीन रस-सिद्धान्त को नया जीवन प्रदान किया । उन्होंने काव्य में सौन्दर्य या रस को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया किन्तु फिर भी उसमें कुछ ऐसे तत्त्वों का समन्वय किया जिससे उनकी आलोचना सामाजिकता से दूर नहीं जा सकी । वे समाज हितैषियों को साहित्य का साध्य तो नहीं मानते, किन्तु एक ऐसे साधन के रूप में स्वीकार करते हैं जो साहित्य को व्यापकता प्रदान करता है । वास्तव में शुक्ल ने 'कला-कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' दोनों में अपूर्व सामंजस्य स्थापित किया ।

3. ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना - ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का सबसे बड़ा योगदान उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है । इतिहास के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण बहुत कुछ वैज्ञानिक था-वे साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों की व्याख्या तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों, रूचियों एवं प्रवृत्तियों के आलोक में करना अधिक उचित समझते थे । अपने इतिहास के आरंभ में ही उन्होंने इस धारणा की ओर संकेत करते हुए लिखा है । शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल की व्याख्या करते समय सारा ध्यान तत्कालीन वातावरण पर ही केन्द्रित कर दिया, उसके मूल में निहित विभिन्न पूर्ववर्ती स्रोतों एवं परम्पराओं को उपेक्षित कर दिया, फलतः अनेक स्थलों पर उनके निष्कर्ष ऊहात्मक हो गए हैं । तुलसीदास, सूरदास, जायसी आदि के ग्रंथों की समीक्षाओं एवं भूमिकाओं के रूप में उन्होंने व्यावहारिक समीक्षा को आगे बढ़ाते हुए उसे उन्नत, विकसित एवं प्रौढ़ रूप प्रदान किया है ।

ऐतिहासिक समीक्षा के उदाहरण पं० विश्वनाथ मिश्र और आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के ग्रंथों में मिलते हैं । आचार्य मिश्र ने 'भूषण ग्रंथावली' और परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में ऐतिहासिक विवेचन एवं मूल्यांकन को चरितार्थ किया है ।

4. शास्त्रीय या सैद्धान्तिक समीक्षा - द्विवेदीयुग में हिन्दी में शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक समीक्षा का विकास दो रूपों में हुआ है - लक्षण ग्रंथ और सिद्धान्त ग्रंथ । आचार्य शुक्ल के सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत उनके 'चिन्तामणि' (दो भाग) तथा 'रस-समीक्षा' में संकलित कुछ लेख एवं विचार आते हैं जिनमें मुख्यतः रस सिद्धान्त

के विभिन्न पक्षों की नई व्याख्या प्रस्तुत की गई है । रस सिद्धान्त को उन्होंने आधुनिक दृष्टिकोण से विकसित करते हुए उसके आनन्दवाद को मनोवैज्ञानिक एवं समाजवादी आधार प्रदान करने का प्रयास किया है । रस दशा के भी उन्होंने अनेक नए भेद करते हुए उसे साधनावस्था, सिद्धावस्था, रूप विधान, कल्पित रूप विधान आदि के आधार पर विश्लेषित किया तथा उसके अनेक कोटियाँ भी निर्धारित की । काव्य में व्यक्त भाव सामाजिक आदर्शों और मान्यताओं के जितना अधिक अनुकूल होगा, उतना ही उसका साधारणीकरण अधिक हो सकेगा – इस स्थापना के आधार पर उन्होंने रस सिद्धान्त की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को सामाजिकता की ओर उन्मुख किया । साथ ही उन्होंने विभिन्न पाश्चात्य सिद्धान्तों की संकीर्णताओं एवं त्रुटियों की ओर भी अप्रत्यक्ष रूप में संकेत किया ।

5. अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना–आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय में इस आलोचना पद्धति की शुरूआत हुई थी, किन्तु शुक्ल युग में विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभागों की स्थापना और शोध कार्यों के प्रश्रय के कारण विपुल संख्या में शोध ग्रंथों का जो लेखन–प्रकाशन हुआ, उससे हिन्दी में अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना काफी समृद्ध हुई । डॉ० पीताम्बर बड़थवाल के शोध प्रबंध 'निर्गुण सम्प्रदाय' के बाद 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' (रमाशंकर शुक्ल रसाल), 'तुलसी दर्शन' (बलदेव प्रसाद मिश्र), 'तुलसीदास' (माताप्रसाद गुप्त) आदि सैकड़ों शोध ग्रंथों ने इस आलोचना पद्धति को समृद्ध किया है और अनुसंधान की नई–नई दिशाओं, प्रवृत्तियों और दृष्टियों को विकसित किया । इसी से हिन्दी की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक आदि विभिन्न आलोचना पद्धतियाँ भी समृद्ध हुई हैं ।

2.3 शुक्लयुगीन अन्य आलोचक एवं आलोच्य कृतियाँ

प्रेमचन्द के साथ जैसे उनके सहवर्ती अनेक लेखक सक्रिय थे, परंतु किसी नई और मौलिक दृष्टि के अभाव में या तो प्रेमचन्द की परम्परा का ही विस्तार कर रहे थे या फिर उसी को दोहरा रहे थे । बहुत कुछ यही स्थिति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साथ आलोचनात्मक परिदृश्य पर सक्रिय अनेक आलोचकों के साथ भी थी । इन आलोचकों की संख्या कम नहीं थी । शुक्लजी के सहवर्ती आलोचकों में कई ऐसे थे जो न सिर्फ उनके छूटे और अधूरे कार्य को पूरा करने का प्रयास कर रहे थे, अपितु अपनी तरह से उनकी आलोचना दृष्टि का विस्तार भी कर रहे थे । ऐसे आलोचकों में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्णाशंकर शुक्ल, बाबू गुलाब राय, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, केसरी नारायण शुक्ल, पदुमलाल पुन्ना लाल बक्शी, आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, विनय मोहन शर्मा, डॉ० सत्येन्द्र आदि का उल्लेख सहज ही किया जा सकता है ।

1. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – विश्वनाथ प्रसाद मिश्र शुक्ल जी की तरह पाश्चात्य साहित्य और दर्शन के विद्वान भले ही न हों लेकिन भारतीय दर्शन और साहित्य शास्त्र में उनकी गहरी पैठ थी । शुक्ल जी के निधन के बाद उनकी 'सूरदास' और 'रस मीमांसा' नामक पुस्तकों का प्रकाशन विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के ही सम्पादन में हुआ था । शुक्ल जी की तरह मिश्र जी भी रसवादी आलोचक हैं । संस्कृत आचार्यों के मतों और विचारों को उन्होंने अत्यन्त विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया है । शुक्ल जी की तरह वे भी साहित्य को मनोरंजन का साधन न मानकर उसकी सामाजिक और लोकवादी भूमिका पर जोर देते हैं । शुक्ल जी की तरह वे साहित्य के मूल्यांकन के जो निकष अपनाते हैं उनमें रस के साथ ही लोकमंगल की भूमिका वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं । शुक्ल जी की तरह मिश्र जी भी काव्य में अध्यात्म के विरोधी थे और क्रोचे के संबंध में उनकी टिप्पणियाँ भी शुक्ल जी से बहुत भिन्न नहीं हैं ।

मिश्रजी की सबसे बड़ी देन रीतिकाल का क्षेत्र विस्तार है । वे रीतिकाल की व्याख्या 'शृंगारकाल' के रूप में करते हैं । शुक्ल जी और अन्य इतिहासकारों ने रीतिकाल की जिन बहुत सी कविताओं को फुटकर खाते में डाल रखा था, मिश्र जी ने उन्हें रीतिकाल की मुख्यधारा में शामिल किया । जहाँ रीतिकाल के अन्य अध्येता इस काल को 'रीतिबद्ध' और 'रीतिसिद्ध' का भी प्रतिपादन करते हैं । 'रीतिसिद्ध' कवियों के अन्तर्गत वे उन कवियों की चर्चा करते हैं जो न तो पूरी तरह से रीतिबद्ध हैं और न ही पूरी तरह से रीतिमुक्त हो सके हैं । रीतिकाल के मूल्यांकन और क्षेत्र विस्तार पर मिश्रजी के योगदान पर टिप्पणी करते हुए रामदरश मिश्र लिखते हैं ''आलोचना सिद्धान्त के पक्ष में मिश्र जी की कोई मौलिक देन भले ही न हो किन्तु इतिहास के एक सीमित क्षेत्र में तथा रीतिकालीन कविताओं और उनकी प्रवृत्तियों की व्याख्या के क्षेत्र में उनका ऋण हिन्दी साहित्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा । रीतिकालीन प्रवृत्तियों के स्वरूपों और उनके उद्गम-स्रोतों की आपने व्यापक और गहरी छानबीन तथा खोज की है । इन प्रवृत्तियों के विश्लेषण के साथ-साथ कवि विशेष की कविताओं का मार्मिक विवेचन कर आपने रीतिकाल को विश्लेषित किया है'' (हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ, पृ० 104)

2. कृष्ण शंकर शुक्ल – कृष्ण शंकर शुक्ल ने मुख्यतः केशव और रत्नाकर पर कार्य किया । उनकी आलोचना का क्षेत्र और भी सीमित था, लेकिन इस सीमित क्षेत्र में भी उनकी आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है आलोच्य कवियों से संबंधित अनुसंधान और फिर सहृदयता पूर्वक उनके काव्य का विश्लेषण और मूल्यांकन ।

कृष्णशंकर शुक्ल 'हृदय की सहानुभूति' को काव्यानंद का मुख्य लक्षण मानते हैं । इस सहानुभूति की परिधि जितनी व्यापक होगी कवि उतनी ही मार्मिकता से जीव-जगत को अपनी परिधि में लेकर अपनी कविता में स्थान देगा । मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी, प्रकृति सब कुछ इसके अन्तर्गत आ जाता है । भाव-ग्रहण की अपनी इस क्षमता के कारण ही मनुष्य अपनी सहानुभूति का विस्तार करता है और अपने सीमित एवं संकुचित संसार से ऊपर उठता है । इसीलिए वे कविता में गड़गड़ाहट और बड़बोलेपन को अस्वीकार करते हैं । 'केशव की काव्य कला' में वे केशव पर संपूर्णता से विचार करते हैं । उनके जीवन और उनके ग्रंथों का विस्तारपूर्वक परिचय देते हुए वे उनके कवि और टीकाकार रूपों का विस्तृत विश्लेषण करते हैं । केशव की काव्यकला, अलंकार, प्रबंध कल्पना, पात्र, प्रकृति, भाषा आदि पक्षों का विवेचन करते हुए वे अपना अभिमत देते हैं । केशव के सन्दर्भ में वे पूरी दरबारी कविता की सीमाओं का उल्लेख भी करते हैं । कृष्णशंकर शुक्ल अनेक मामलों में शुक्ल जी के साथ होने पर भी बहुत विनम्रतापूर्वक अपनी असहमति भी व्यक्त करते हैं । वे इतनी दूर तक जाकर केशव का विरोध नहीं करते कि उन्हें कवि का हृदय मिला ही न था । केशव के कुछ अच्छी कविताओं को आधार बनाकर उनकी मार्मिकता का विश्लेषण भी करते हैं । इस प्रसंग में विश्वनाथ त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है, ''पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने केशव की काव्यकला की विवेचना उसी पद्धति से की है जिस पद्धति से आचार्य शुक्ल ने की थी । किन्तु पद्धति एक होने पर भी निष्कर्ष एक से नहीं है । केशव के प्रति पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने अधिक सहानुभूति से काम लिया है ।'' (हिन्दी आलोचना संस्करण-70, पृ० 126) ।

3. बाबू गुलाब राय – बाबू गुलाब राय ने श्याम सुंदर दास की तरह ही छात्रोपयोगी पुस्तकें लिखीं जिनका मुख्य उद्देश्य भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का विश्वसनीय और प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत करना था । इसी दृष्टि से उन्होंने 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'साहित्य के रूप' की रचना की । ये दोनों पुस्तकें लगभग वही काम करती हैं, अपेक्षाकृत अधिक पूर्णता और स्पष्टता के साथ, जो श्यामसुंदर दास की साहित्यालोचना ने किया था । अपनी इन पुस्तकों की प्रकृति पर टिप्पणी करते हुए वे स्वयं लिखते हैं, 'यह पुस्तक और इसका दूसरा भाग (काव्य के रूप) इस दृष्टि से लिखे गए हैं कि विद्यार्थियों को काव्यांगों, रस, रीति, लक्षणों, व्यंजना, अलंकारों आदि का सामान्य परिचय

हो जाए और उनका काव्य में स्थान समझ में आ जाए । उसी के साथ वे वर्तमान साहित्यिक समस्याओं और वादों से भी अवगत हो जाएँ । इनमें पूर्व और पश्चिम के मतों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है ।' वे स्वीकार करते हैं कि इन पुस्तकों का मूल स्रोत भारतीय काव्यशास्त्र है लेकिन समालोचना के प्रकार और सिद्धांत विदेशी परम्परा से प्रभावित हैं । उनकी ये दो पुस्तकें, जिन्हें वे एक ही पुस्तक के दो भाग मानते हैं, साहित्यालोचना का पूरा क्षेत्र व्यापक कर लेती हैं । व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में लगभग यही काम उनकी 'हिंदी काव्य विमर्श', 'साहित्य-समीक्षा' और 'अध्ययन और आस्वाद' जैसी पुस्तकें करती हैं । विजयेन्द्र स्नातक के संयुक्त संपादन में उन्होंने 'आलोचक रामचंद्र शुक्ल नामक पुस्तक का संपादन भी किया है जिसमें शुक्ल जी पर लिखित उनके तीन निबंध संकलित हैं । उनके समालोचना कर्म पर डॉ० रामदरश मिश्र की यह टिप्पणी बहुत संतुलित और सटीक मानी जा सकती है, 'गुलाबराय की समीक्षाएँ शुक्ल जी की समीक्षाओं की अपेक्षा अधिक उदार हैं क्योंकि वे समन्वयवादी थे । वे नए पुराने, पूर्वी-पश्चिमी आचार्यों के मतों के लंबे-लंबे उद्धरण लेकर उनमें एक समन्वय खोजने के पक्षपती रहे हैं । यह कार्य निश्चय ही कम विवादास्पद किंतु सतही होता है । गुलाब राय में पूर्वग्रह नहीं है । इनमें स्वर का फैलाव है और यहाँ वहाँ से बातें बटोरने की प्रवृत्ति है ।' (हिन्दी समीक्षा : स्वरूप संदर्भ, पृ० 13)

4. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, शुक्ल जी के छात्र थे लेकिन शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि और परंपरा के विकास का कोई गम्भीर उद्यम उनमें दिखाई नहीं देता । उनकी ख्याति का मुख्य आधार जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर केन्द्रित उनका शोध प्रबंध 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' की है । जैसा कि उसके शीर्षक से ही स्पष्ट है साहित्य के मूल तत्त्वों के आधार पर किया गया अध्ययन है । इस शोध प्रबंध की खास विशेषता है कि इसमें प्रसाद के नाटकों के ऐतिहासिक स्रोतों और पृष्ठभूमि की कदाचित् पहली बार गंभीर और प्रामाणिक चर्चा हुई है । आलोचना के क्षेत्र में डॉ० शर्मा ने कोई मौलिक कार्य भले ही न किया हो लेकिन कई कारणों से उनकी 'कहानी का रचना-विधान' सर्वाधिक उल्लेखनीय पुस्तक है । इसमें देशी-विदेशी अनेक लेखकों की सामग्री के आधार पर वे कहानी की स्वतंत्र अध्ययन की एक गंभीर और व्यवस्थित शुरूआत करते दिखाई देते हैं । डॉ० शर्मा कहानी के संबंध में किसी स्वत: स्फूर्त गैर शास्त्रीय दृष्टि का उपयोग नहीं करते लेकिन उनकी पुस्तक कहानी जैसी उपेक्षणीय विद्या को गंभीरतापूर्वक लिए जाने की पहल अवश्य करती है । कहानी की आलोचना में संभवत: पहली बार वे उसकी 'प्रभावान्विति' पर इतना बल देते हैं और इसे 'चुभन' के रूप में देखकर समीक्षा में उसके प्रभाव-विश्लेषण का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं ।

कहानी का 'रचना-विधान' का सबसे महत्त्वपूर्ण खण्ड उसका परिशिष्ट हैं जिसमें 'बोध-विश्लेषण' के अन्तर्गत वे तीन कहानियों का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं । इन्हें वे कहानियों की तीन श्रेणियाँ बनाकर क्रमश: वातावरण प्रधान, नाटकीय और इतिवृत्तात्मक कहानियों के प्रतिनिधि रूप में प्रस्तुत करते हैं । बहुत संक्षिप्त होने पर भी उनकी ये टिप्पणियाँ कहानीकारों और उनकी कहानियों के मूल वैशिष्ट्य को बहुत बेधक दृष्टि से उद्घाटित करती हैं । यही वह पुस्तक है जो हिन्दी में कहानी की आलोचना का रास्ता बनाती है ।

5. केसरी नारायण शुक्ल - डॉ० शुक्ल इस बात पर विशेष बल देते हैं कि रीतिकाल का मूल्यांकन सामाजिक वास्तविकता और जनवादी दृष्टि से नहीं हो सकता क्योंकि कवियों के आगे ऐसा कोई आदर्श था ही नहीं । इस दौर की रचना का एकमात्र आदर्श ही शुद्ध सौंदर्य था । इसीलिए इस दौर के कवियों से प्रबंध काव्य के अभाव की शिकायत का भी कोई अर्थ नहीं है ।

केसरी नारायण शुक्ल भारतेन्दुयुगीन साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी व्यापकता और सर्वांगीणता से देखते हैं । उसकी इस विशिष्टता को वे उसकी यथार्थवादी दृष्टि से जोड़कर देखे जाने पर बल देते हैं । इस दौर में वे हिन्दुत्व और देशभक्ति के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं देखते । जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारत के दुर्भाग्य का रोना रोते हैं और सारे देश को जगाने का प्रयास करते हैं तो उनकी दृष्टि में पूरा देश होता है । कोई विशेष जाति या समाज नहीं । इसी तरह जब प्रताप नारायण मिश्र किसान की दुर्दशा का चित्र खींचते हैं तो उनकी दृष्टि में ऐसा कोई भाव नहीं होता कि वह किसान हिन्दू है या मुसलमान । उनकी दृष्टि में वह केवल किसान है ।

केसरी नारायण शुक्ल से संबंधित अपने विश्लेषण का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए प्रदीप सक्सेना लिखते हैं - 'भारतेन्दु युग की तरह स्वाधीनतापूर्वक किसी अन्य आलोचक के विचार छायावाद और प्रगतिवाद पर इतने महत्त्वपूर्ण नहीं मिले, न ही इतने परिपक्व और विश्लेषणपरक जितने प्रो० केसरीनारायण शुक्ल के 40-45 के दौरान ऐसी विवेचना और मूल्यांकन आश्चर्यचकित करता है । उन्होंने छायावाद को द्विवेदीयुग की प्रतिक्रिया के रूप में नहीं लिया, जैसा कि आमतौर पर चलन है, इसके विपरीत वे 'आंतरिकता' के विश्लेषण में प्रवृत्त हुए । जिस तरह आचार्य शुक्ल के रीतिकाल संबंधी मूल्यांकन से डॉ० शुक्ल असहमत थे उसी तरह आचार्य शुक्ल के छायावाद संबंधी विश्लेषण का भी उन्होंने वैज्ञानिक प्रतिवाद किया ।'.....(पहल, मार्क्सवादी आलोचना विशेषांक अंक 64-65, पृ० 304/305)

6. • पदुमलाल पुन्नापाल बख्शी - पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने एक ओर यदि 'विश्व-साहित्य' जैसी पुस्तक के द्वारा हिन्दी-साहित्य में तुलनात्मक आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया, वहीं 'हिन्दी कथा-साहित्य' जैसी पुस्तक से कथालोचना की गंभीर और व्यवस्थित शुरूआत की । उपन्यास को जनता के साहित्य रूप के तौर पर स्वीकृति देते हुए वे जनजीवन के अंकन को ही उसका मुख्य प्रकार्य मानते हैं । 'जनता के जीवन से जिस साहित्य का कोई सम्पर्क नहीं, उसके द्वारा जनता में न सच्ची कर्तृत्व शक्ति आ सकती है । जो कला जनता के जीवन में नव-प्रेरणा नहीं दे सकती, वह चिरन्तन सौन्दर्य की निष्प्राण प्रतिभा की तरह व्यर्थ रहती है'...हिन्दी कथा साहित्य, संस्करण 54 पृष्ठ 4 पर जनता और कला के पारस्परिक सम्बन्ध पर उनकी स्पष्ट और दो टूक टिप्पणी है ।

लोकप्रियता बनाम कलात्मकता के द्वन्द्व में बख्शी जी लोकप्रियता की उपेक्षा नहीं करते हैं । इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भिन्न वे देवकीनन्दन खत्री के चमत्कारिक प्रभाव को गहराई में रेखांकित कर पाने में सफल हुए हैं । वे कदाचित् पहले आलोचक हैं जिन्होंने देवकीनन्दन खत्री के जादुई प्रभाव को इतने भास्वर रूप में स्वीकार किया है । उनकी दृष्टि में प्रेमचन्द का महत्त्व यह है कि उन्होंने कल्पना के इस तिलिस्म को ग्राम-ग्राम, घर-घर में प्रेम, स्नेह और त्याग के वास्तविक तिलिस्म में बदल दिया है । बख्शी जी ने प्रेमचन्द के कथारस की प्रशंसा की है । वे प्रेमचन्द की चमत्कारिक सफलता का रहस्य उनके पात्र और कथ्य को मानते हैं । क्योंकि वह पात्र हमारे समाज के ही व्यक्ति हैं और उनकी कथाओं में हमारे ही घरों के चित्र अंकित हैं । उनकी समस्याएँ हमारी ही समस्याएँ हैं ।

आधुनिक कथा साहित्य में नारी की मूल समस्या तब तक विवाह और प्रेम की थी । तब से अब तक इस दिशा में क्रांतिकारी और तात्त्विक परिवर्तन हुआ है । बख्शी जी मानते हैं कि स्त्री के प्रेम-त्रिकोण की समस्या प्रधानत: पुरुषों की अपनी भावनाओं का आरोपण है । इससे विवाह और दाम्पत्य जैसी संस्था बुरी तरह प्रभावित हुई है । आज के अनेक त्रिकोणात्मक उपन्यासों में पति को ही इस 'दैत्य' के रूप में देखा जाता है । प्रेमी नायक अपनी नायिका को इससे मुक्त कराकर स्वच्छंदता और दायित्वहीनता के लिए रास्ता साफ करता है । इसमें दाम्पत्य और वैवाहिक जीवन अप्रभावित नहीं रहता है ।

बख्शी जी रघुवीर सहाय की इस बात से सहमत दिखाई देते हैं कि जहाँ बहुत ज्यादा कला होती है वहाँ सच नहीं होता । उपन्यास को वे जीवन के सम्पूर्ण साक्षात्कार के रूप में ही देखते हैं जिसमें एक ओर यदि व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन उपेक्षित है, वहीं कला और जीवन के बीच भी ।

बख्शी जी ऐतिहासिक उपन्यास की महत्ता नवजागरण के संदर्भ में आंकते हैं क्योंकि उसमें अतीत गौरव की प्रत्यक्षता सुकर और सुलभ होती है । वहाँ व्यक्ति की अपेक्षा राष्ट्र अधिक महत्त्वपूर्ण है । ऐतिहासिक उपन्यास की यात्रा वर्तमान से अतीत की ओर होती है । लेकिन उसमें लेखक को यह छूट नहीं होती है कि वह अपने वर्तमान को अतीत पर साँट दे ।

पश्चिम में काफी समय से उपन्यास की मृत्यु की घोषणा की जाती रही है उसी तर्ज पर अब हिन्दी में भी कुछ लोग उपन्यास के पुनर्जन्म की बात करने लगे हैं । बख्शी उपन्यास की मृत्यु की नहीं, भविष्य की बात करते हैं । कविता के उत्स को वे जीवन में उदात्त के क्षरण से जोड़कर देखते हैं । बख्शी जी मानते हैं कि 'अंकिल टाम्स केबिन', 'वाटर बेबीज', और 'ब्लैक ब्यूटी' जैसे उपन्यास अपने युग की समस्याओं, दास-प्रथा, बालश्रम और पशुओं के प्रति घोर संवेदनहीनता के कारण तो तीव्र प्रतिरोध की भूमिका निबाहते ही हैं, उन्होंने अपने देश की सरकारों को इन सम्बद्ध क्षेत्रों में सुधार के लिए भी प्रेरित किया, लेकिन वे उपन्यास आज भी पढ़े जाते हैं । उपन्यास का पाठक उपन्यास में अपने मन के सच्चे मनुष्य की खोज करता है । इसीलिए उपन्यास में कल्पना की एक विशिष्ट भूमिका होती है । लेकिन वह कल्पना पाठक के अपने परिवेश, भावलोक और आकांक्षाओं के संदर्भ में ही सार्थक होती है ।

7. आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय – आचार्य पाण्डेय हिन्दी आलोचना की उसी परम्परा का विकास करते हैं जिस रूप प्रकृति में काफी कुछ भिन्न होने पर भी बाबू श्यामसुंदर दास और आचार्य शुक्ल ने सुस्थिर किया था । चंद्रबली पाण्डेय संस्कृत और फारसी के विद्वान थे । उनकी आलोचना अपनी प्रकृति में अकादेमिक और अनुसंधानपरक है । वे अपने समकालीन साहित्य में कोई हस्तक्षेप न करके संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन कवियों पर ही अपने को केंद्रित करते हैं । संस्कृत में कालिदास और शुद्रक एवं हिन्दी में तुलसीदास उनके प्रिय कवि हैं । उन्होंने इन्हीं पर स्वतंत्र रूप से विस्तारपूर्वक लिखा है और इनके जीवन साहित्य एवं युग के विषय में गंभीर अनुसंधानात्मक सामग्री प्रस्तुत की है । राष्ट्रभाषा के रूप में वे हिन्दी के घोर समर्थक थे ।

काव्य की रचना प्रक्रिया में वे विभाजन व्यापार को विशेष महत्त्व देते हैं । साहित्य में सौन्दर्य के साथ वे सामाजिक और नैतिक मूल्यों के भी पक्षधर हैं । वे 'शोभन' और शालीन के समन्वय में ही साहित्य की सार्थकता देखते हैं । लेकिन इस शोभन और शालीन की अवधारणा युग निरपेक्ष और शाश्वत नहीं है । चन्द्रावली पाण्डेय विदेशी परम्परा और संस्कृति से सम्बद्ध मानने के आधार पर उर्दू को स्वीकार नहीं करते । इसी कारण वे उसे हमारी राष्ट्रीय सांस्कृतिक अस्मिता की अभिव्यक्ति में अक्षम मानते हैं । उनके इन विचारों की छाप उनकी अपनी भाषा शैली पर भी बहुत स्पष्ट है । उर्दू के सजग बहिष्कार के कारण उनकी आलोचना भाषा अपनी प्रकृति में अकादेमिक और शास्त्रीय अधिक है ।

8. लक्ष्मीनारायण सुधांशु – सुधांशु जी ने 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' जैसी पुस्तकें लिखीं । अपनी पहली पुस्तक में जहाँ वे जीवन के संदर्भ में विभिन्न काव्य सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए इनके पारस्परिक संबंधों पर बल देते हैं । वहीं अपनी दूसरी पुस्तक में, रसवाद के प्रति अपने आग्रह के बावजूद वे अभिव्यंजनावाद के विभिन्न पक्षों की व्याख्या करते हुए उसके द्वारा काव्य में उत्पन्न सौन्दर्य के विविध रूपों की

तलाश करते हैं । सुधांशु जी की आलोचना में कहीं-कहीं मौलिकता के स्फुलिंग विद्यमान हैं । वे आचार्य शुक्ल से भिन्न राह भी ग्रहण करते दिखाई देते हैं लेकिन उनके विवेचन में वैसी तलस्पर्शिता और विश्लेषण क्षमता नहीं है जो अच्छी और सार्थक आलोचना की मुख्य पहचान है ।

9. विनय मोहन शर्मा – शर्मा जी ने अधिकतर शास्त्रीय आलोचना के क्षेत्र में कार्य किया । उन्होंने किसी व्यवस्थित आलोचना कर्म की अपेक्षा आलोचनात्मक निबंध ही अधिक लिखे जो उनके विभिन्न संकलनों – 'दृष्टिकोण', 'साहित्यलोकन', 'साहित्यशोध समीक्षा आदि में संकलित हैं । 'हिन्दी को मराठी संतों की देन' उनके शोध प्रबंध का प्रकाशित रूप है । 'कवि प्रसाद का 'आँसू' तथा अन्य कृतियाँ व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उनकी एक छात्रोपयोगी पुस्तक है । पुस्तक मूलत: 'आँसू' पर केन्द्रित है लेकिन वह प्रसाद की अन्य काव्य कृतियों का भी संक्षिप्त परिचय देती है – उनके सम्पूर्ण काव्य विकास को समेटते हुए परिशिष्ट में 'आँसू' की पंक्तियों पर प्रकाश शीर्षक के अंतर्गत 'आँसू' की संक्षिप्त टीका भी दी गई है । भाषा और शैली की दृष्टि से भी विनयमोहन शर्मा की आलोचना अकादेमिक आलोचना ही है ।

10. डॉ० सत्येन्द्र – डॉ० सत्येन्द्र का मुख्य कार्य क्षेत्र लोक साहित्य का अनुसंधान और अध्ययन है । ब्रजक्षेत्र से सम्बन्धित होने के कारण ब्रजभाषा और ब्रज के लोक साहित्य के प्रति उनकी विशेष रूचि थी । 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' इस दिशा में ही उनका एक गंभीर और अनुसंधानपूर्ण प्रयास है । व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उनका सबसे उल्लेखनीय कार्य 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी कला' है । उनकी यह पुस्तक तब लिखी गई जब हिन्दी में कहानी की आलोचना की कोई व्यवस्थित पृष्ठभूमि नहीं थी और आलोचक प्रेमचन्द के उपन्यासों की पर्याप्त चर्चा करने में भी प्राय: उनकी कहानियों को अधिक महत्त्व नहीं देते थे । मैथिलीशरण गुप्त पर लिखित उनकी पुस्तक 'गुप्तजी की कला' और 'हिन्दी एकांकी' उल्लेखनीय हैं । इनके अतिरिक्त अनेक साहित्य विषयों और समस्याओं पर लिखित उनके निबंध 'कला कल्पना और साहित्य', 'कल्पना और साहित्य', 'साहित्य की झांकी' आदि संकलनों में संकलित हैं । अपनी व्यावहारिक आलोचना में वे किसी बहुत मौलिक विचार-दृष्टि और तेजस्विता की छाप भले ही न छोड़ते हों, लेकिन संबद्ध कवियों और विषयों का उनका विवेचन पर्याप्त साफ-सुथरा तो है ही, अपने अन्य बहुत से समकालीनों से भिन्न वह आलोचना की अकादेमिक जड़ता से भी मुक्त है ।

2.4 अभ्यास के प्रश्न

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-युगीन आलोचना की प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए ।
2. शुक्लयुगीन अन्य आलोचकों एवं उनकी आलोच्य कृतियों का विवेचन कीजिए ।
3. टिप्पणी लिखें ।
   (क) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
   (ख) बाबू गुलाब राय
   (ग) केसरी नारायण शुक्ल
   (घ) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
   (ङ) लक्ष्मीनारायण सुधांशु

शुक्ल पूर्व हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास

पाठ संरचना

3.0 उद्देश्य
3.1 परिचय
3.2 हिन्दी आलोचना का उद्‌भव और भारतेन्दु युगीन प्रवृत्तियाँ
3.3 प्रमुख आलोचक
3.4 महावीर प्रसाद द्विवेदी युगीन आलोचना की प्रवृत्तियाँ और पद्धतियाँ
3.5 प्रमुख आलोचक
3.6 अभ्यास के प्रश्न

3.0 उद्देश्य

विश्वसनीयता आलोचना की पहली और मूलभूत शर्त है । आलोचना में विश्वसनीयता का क्षरण उसे आलोचना नहीं रहने देता - कम से कम वैसी आलोचना जो अपने प्रति विश्वास जगाती है । आलोचना का सबसे बड़ा शत्रु दम्भ है । वह उसकी विनम्रता का हरण करता है जिसके अभाव में सार्थक आलोचना संभव ही नहीं है । हिन्दी आलोचना का प्रारंभ भारतेन्दु युग में गद्य के अन्य विद्याओं के साथ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ था । इस इकाई का उद्देश्य हिन्दी आलोचना के उद्‌भव और विकास से छात्रों को परिचित कराना है ।

3.1 परिचय

संस्कृत का काव्यशास्त्र इतना अधिक विकसित और प्रौढ़ है कि उसके सामने प्राकृत, अपभ्रंश आदि परवर्ती भाषाओं के साहित्यकार किसी स्वतंत्र या नवीन काव्यशास्त्र की स्थापना की कल्पना नहीं कर सके । साहित्य-संबंधी सिद्धान्तों के लिए परवर्ती भाषाएँ प्राय: संस्कृत पर ही आश्रित रही । मध्यकाल में जब हिन्दी काव्य का विकास हुआ तो उसे भी साहित्य-शास्त्र की आवश्यकता अनुभव हुई तथा इसकी पूर्ति संस्कृत काव्यशास्त्र से की गई । मध्यकालीन हिन्दी समीक्षा को अधिक से अधिक संस्कृत काव्यशास्त्र के पद्यानुवाद के सीमित प्रयास के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता एवं पोषक विराट् साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने हिन्दी साहित्य के सभी उपेक्षित अंगों का विकास किया था, अत: आलोचना साहित्य भी उनके युग-परिवर्तनकारी करों के स्पर्श से वंचित कैसे रह सकता था । यदि संस्कृत के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' लिखा तो आधुनिक हिन्दी के जनक बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' की रचना की । भारतेन्दु के नाटक का प्रकाशन सन् 1883 ई० में हुआ था । यह ग्रंथ एक अत्यन्त प्रौढ़ रचना है जिसमें प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र एवं आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा साहित्य का

समन्वय करते हुए तत्कालीन हिन्दी नाटककारों के लिए सामान्य नियम निर्धारित किए गए हैं; जिनमें स्थान-स्थान पर लेखक की मौलिक उद्‌भावनाएँ प्रकट हुई हैं ।

3.2 हिन्दी आलोचना का उद्‌भव और भारतेन्दु युगीन प्रवृत्तियाँ

भारतेन्दु युग में हिन्दी आलोचना का आरंभ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ । 'हिन्दी प्रदीप' आदि पत्रिकाओं में गंभीर आलोचनाएँ प्रकाशित होती थीं । पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक-समीक्षा के रूप में प्रकाशित होनेवाली आलोचनाओं के अतिरिक्त इस युग में तीन प्रकार की आलोचनाओं का अस्तित्व भी स्वीकार किया जा सकता है 1. रीतिकालीन लक्षण-ग्रंथों की परंपरा में लिखित सैद्धान्तिक आलोचना, 2. ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली गद्य में लिखी गई टीकाओं के रूप में प्रचलित आलोचना, 3. इतिहास ग्रंथों में कवि-परिचय के रूप में लिखी गई आलोचना ।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत पिंगल, अलंकार, रस, नाटक तथा सम्पूर्ण काव्यशास्त्र-इन सभी विषयों पर लक्षण-ग्रंथों की रचना की गई । उदाहरणस्वरूप ज्वालास्वरूप कृत 'रूद्र पिंगल', उमराव सिंह कृत 'द्वन्द्व महोदधि', जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कृत 'छन्द प्रभाकर' इस युग में रचित उल्लेखनीय पिंगल ग्रंथ है । इसी प्रकार लछिराम-कृत 'रावणेश्वर कल्पतरू' बिहारी लाल कृत 'अलंकारादर्श' तथा मुरारिदान कविराज-कृत 'जसवन्त-जसो-भूषण' आलोच्य युग के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं । रस-ग्रंथों में कृष्णलाल-कृत 'रस सिन्धु विलास', साहबप्रसाद सिंह-कृत 'रसरहस्य' और प्रतापनारायण सिंह कृत 'रसकुसुमाकर' उल्लेखनीय हैं । सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को दृष्टि में रखकर लिखे गए लक्षण ग्रंथों में जानकीप्रसाद का 'काव्यसुधाकर' उल्लेखनीय है । नाट्यशास्त्र संबंधित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति भारतेन्दु के 'नाटक' है । इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन नाट्यशास्त्र की जानकारी कराने के साथ ही युग-प्रवृत्ति का ध्यान रखकर प्राचीन जटिल शास्त्रीय नियमों में छूट लेने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है । इन लक्षण ग्रंथों में दो महत्त्वपूर्ण बातें प्रकट होती हैं । एक तो ये इस बात के सूचक हैं कि किसी भी युग में शिक्षित जनता की मनोवृत्ति का प्रवाह समानान्तर कई धाराओं में हो सकता है - आलोच्य युग में एक ओर जहाँ पत्र-पत्रिकाओं में व्यापक राष्ट्रीय हित एवं समाज कल्याण को दृष्टि में रखकर पुस्तकों की समीक्षा की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर रीतिकालीन मूल्यों में विश्वास करनेवाले कुछ विद्वान-पिंगल, नायिकाभेद, रस निरूपण एवं अलंकार-विवेचन में प्रवृत्त थे । दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह लक्षित करने की है कि मात्र समाज को प्रभावित करनेवाली कुछ बुरी बातों का उल्लेख कर देने से काव्य-समीक्षा का स्तर ऊँचा नहीं उठता । जब तक शास्त्रीय सिद्धान्तों का पुनरुत्थान करके उनकी कसौटी पर नवीन कृतियों की गंभीर एवं मार्मिक समीक्षा नहीं की जाती तब तक शास्त्रीय सिद्धान्तों की पुरानी परम्परा अलग घिसटती रहती है और सामान्य समीक्षा अलग प्रसारित होती रहती है ।

ब्रज-भाषा गद्य में लिखी जानेवाली टीकाओं, परम्परा को जहाँ आलोच्य युग के कुछ ही पूर्व सरदार कवि ने जीवित रखा-उनके द्वारा रचित 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'बिहारी सतसई' पर लल्लू लाल जी की टीका 'लाल चन्द्रिका' का संशोधन करके दुर्गादत्त कवि ने सन् 1864 में और पुनः गियर्सन ने 1896 ई० में प्रकाशित कराया । यह टीका ब्रजभाषा प्रभावित खड़ीबोली गद्य में थी । प्रभुदयाल पाण्डेय ने भी 1896 ई० में खड़ीबोली गद्य में 'बिहारी सतसई' की एक अच्छी टीका लिखी थी । इन टीकाओं में कहीं-कहीं उत्तम एवं सूक्ष्म काव्य गुणों का संकेत मिल जाता है । इसलिए टीका-मद्धति की व्याख्या को भी एक प्रकार की आलोचना कहा जा सकता है । आलोच्य युग में दो इतिहास ग्रंथ भी लिखे गए-शिवसिंह सेंगर कृत शिवसिंह सरोज और जार्ज ग्रियर्सन-कृत 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर

लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिन्दुस्तान' । इनमें से शिव सिंह सेंगर की आलोचना पद्धति में प्रशंसात्मक उक्तियों की ही बहुलता है । उदाहरण के लिए देव कवि के सम्बन्ध में सरोजकार ने लिखा है, ''शब्दों में ऐसी सामर्थ्य कहाँ कि उनमें इनकी प्रशंसा की जाए ।'' इस प्रकार के वाक्यों के अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है वह सब प्राय: सूचना-मात्र है । ग्रियर्सन ने अवश्य कुछ कहने की चेष्टा की है, किन्तु उनके कथन भी वैयक्तिक उद्‌गार मात्र हैं । अत: आलोच्य युग के इतिहास-ग्रंथों में दिए गए कवि-परिचयों में आलोचना के तत्त्व नहीं के बराबर हैं ।

वस्तुत: भारतेन्दु युग में आधुनिक आलोचना का रूप यदि कहीं बीज-रूप में सुरक्षित है तो वह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं में ही है । इस क्रम में सबसे पहला उल्लेखनीय नाम बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का है । उन्होंने श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' और गदाधरसिंह कृत 'बंगविजेता' के अनुवादों की विस्तृत आलोचना 'आनन्दकादम्बिनी' में की थी । इसके बाद बालकृष्ट भट्‌ट और बालमुकुन्द गुप्त ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया । भट्‌ट जी की 'नील देवी', 'परीक्षा गुरू', 'संयोगिता स्वयंवर' और एकान्तवासी योगी संबंधी आलोचनाएँ तत्कालीन समीक्षा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । बालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखित आलोचनाएँ भी इसी परम्परा को आगे बढ़ानेवाली है, किन्तु उनका कृतित्व बहुत-कुछ द्विवेदी-युग की सीमा में आता है ।

सब मिलाकर कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग में आधुनिक हिन्दी आलोचना का सूत्रपात तो हो गया था, किन्तु तत्कालीन समीक्षकों में न तो सूक्ष्म काव्य-सौन्दर्य-विधायक तत्त्वों को पहचानने की क्षमता थी और न रचना में निहित जीवन-मूल्यों को सौन्दर्य-तत्त्व से जोड़कर व्याख्यायित करने की शक्ति ।

3.5 प्रमुख आलोचक

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - नवजागरण के इस बेला में गद्य के अनेक रूपों के स्वत: स्फूर्त रचनात्मक विस्फोट के कारण पत्र-पत्रिकाओं की आवश्यकता अनुभूत की जा रही थी । साहित्य रचना और उसकी प्रेरणा की तरह इस दिशा में वास्तविक स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही करते हैं । 1865 ई० में अपने परिवार के साथ जगन्नाथ की यात्रा की थी । अपनी इस यात्रा में उन्हें बंगाल की साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों को निकट से देखने का अवसर मिला । [illegible] तीन वर्ष बाद बंगला नाटक 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद प्रकाशित हुआ । इसी वर्ष अर्थात् 1968 ई० में उन्होंने 'कवि-वचन सुधा' नामक पत्रिका शुरू की । अपने नाम के अनुरूप पत्रिका कविता केन्द्रित थी जिसमें गद्य रचनाएँ भी छपने लगीं । इसके पाँच वर्ष बाद 1873 में भारतेन्दु ने ही 'हरिश्चंद्र मैगजीन' नामक मासिक पत्रिका आरंभ की और आठ अंकों के बाद उसका नाम बदलकर इन्होंने 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका' कर दिया । हिन्दी गद्य के विकास और रूप निर्धारण में इस पत्रिका की एक विशिष्ट भूमिका थी । इस पत्रिका के रूप में अभिव्यक्ति का एक सहज मंच मिल जाने के परिणामस्वरूप अनेक नए लेखकों को लिखने की प्रेरणा मिली । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पत्रिका में उन्हीं की प्रेरणा से हिन्दी की ओर आकृष्ट होनेवाले लेखकों की भूमिका पर टिप्पणी रामचन्द्र शुक्ल ने किया है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित इन पत्रिकाओं के अतिरिक्त और भी पत्रिकाएँ उस काल में निकलीं । हिन्दी गद्य के विकास में उनकी विशिष्ट और उल्लेखनीय भूमिका रही । बालकृष्ण भट्‌ट की 'हिन्दी प्रदीप' प्रतापनारायण मिश्र की 'ब्राह्मण' और उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' के सम्पादन में निकलनेवाली 'आनन्द कादम्बिनी' आदि अपनी पत्रिकाएँ साहित्यिक, सांस्कृतिक अपनी भूमिका की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं ।

भारतेन्दु ने अनुवाद और मौलिक नाटकों के अपने अनुभव के आधार पर ही नाटक अथवा 'दृश्यकाव्य' नामक पुस्तक की रचना की । पच्चीस पृष्ठों के अपने संक्षिप्त क्लेवर में यह एक स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में उनके निधन से एक वर्ष पूर्व सन् 1883 में प्रकाशित हुआ । पुस्तिका का आरंभ बहुत स्पष्ट रूप में 'नाटक' को परिभाषित करते हुए किया गया है 'नाटक' शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया । वे विस्तारपूर्वक संस्कृत नाटकों के विभिन्न भेदों का उल्लेख करते हुए - नाटक, प्रकरण, भाषा, व्यायोग, डिम, अंक, प्रहसन नाटिका आदि आधुनिक नाटकों तक आते हैं । आधुनिक नाट्य रचना के उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए वे नाट्य-विधान की चर्चा भी करते हैं । वे नाटक में चित्रपटों और यवनिका के महत्त्व पर भी प्रकाश डालते हैं । प्राचीन संस्कृत नाटकों में इनको उपयोग की संभावनाओं पर विचार करते हैं । अपनी इस पुस्तिका भारतेन्दु हरिश्चन्द्र संस्कृत के कालिदास, भवभूति, शूद्रक, विशाखादत्त आदि नाटककारों का मूल्यांकन भी करते हैं ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक संबंधी इस विवेचन के संबंध में कुछ बातों की ओर ध्यान देना जरूरी है । हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में पहला व्यवस्थित प्रयास होने पर भी इसमें भारतेन्दु की सुगम्भीर तैयारी बहुत स्पष्ट है । नाटकों के साथ ही वे संस्कृत काव्यशास्त्र का भी विस्तार से अधिकारपूर्वक उपयोग करते हैं । उनकी आलोचना दृष्टि अपनी परम्परा पर केन्द्रित होने पर भी बाह्य आधुनिक प्रभावों के लिए पूरी तरह से खुली हुई है । इस संदर्भ में बांगला भाषा का उल्लेख वे जितने आदर और आत्मीयता के साथ करते हैं उससे उनकी आलोचना दृष्टि की व्यापकता स्पष्ट हो जाती है । संस्कृत, हिन्दी के साथ वे यूरोपीय नाटकों की चर्चा भी विस्तारपूर्वक करते हैं । यूरोप में नाटक के विकास में चर्च की कला एवं संस्कृति विरोधी भूमिका का उल्लेख भी वे करते हैं । नाटक की इन विशेषताओं के कारण ही देवेन्द्र राज अंकुर ने उसे आधुनिक भारतीय रंगमंच का पहला नाट्यशास्त्र कहकर उसका महत्त्व रेखांकित किया है ।

भारतेन्दु ने नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति, समसामयिकता, जनरूचि एवं प्राचीन नाट्यशांस्त्र की उपयोगिता पर विचार किया है । उन्होंने बदली हुई जनरूचि के अनुसार नाट्य-रचना में परिवर्तन पर बल दिया है । ऐसी दशा में उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रथम आलोचक कहना अनुचित न होगा ।

2. पं० बालकृष्ण भट्ट - पं० बालकृष्ट भट्ट का जन्म 1844 और मृत्यु 1914 ई० में हुई । भट्ट जी ने 'हिन्दी प्रदीप' में जुलाई 1881 में 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' शीर्षक से एक लेख लिखा था । उसमें उन्होंने साहित्य को इस रूप में पारिभाषित किया था : ''साहित्य यदि जनसमूह के चित्त का चित्रपट कहा जाए तो संगत है, किसी देश के इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल हम उसे देश का जान सकते हैं पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय-समय के आभ्यान्तरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं ।'' इस परिभाषा में साहित्य की दो विशेषताएँ बतलाई गई हैं । एक तो यह कि साहित्य व्यक्ति विशेष के नहीं, बल्कि सामान्य जनता के चित्त का प्रतिबिम्बि है और दूसरी यह कि इसके द्वारा हमें सामान्य जनता के परिवर्तन चित्त-सब समय-समय के आभ्यान्तरिक भाव'-की दशा का पता चलता है ।

बालकृष्ण भट्ट ने 'सच्ची कविता' शीर्षक से 'हिन्दी प्रदीप' (अक्टूबर 1886) में एक निबंध लिखा था । इस निबंध में उन्होंने कविता का स्वच्छंदतावादी वर्णन प्रस्तुत किया है । कविता को वे मनुष्य का सत्र 'एसन्स' मानते हैं 'इसलिए पूर्णतः प्रभावशाली होने के लिए उनके अनुसार सच्चा होना आवश्यक है । कविता हृदय को सीधे प्रभावित करे, इसके लिए जरूरी है कि वह नैसर्गिक हो और उसमें कलात्मकता न हो । कविता की शास्त्र रचना ने क्लासिकल कविता को जन्म दिया । भट्ट जी क्लासिकल कविता की गरिमा और सौन्दर्य को स्वीकार करते हैं, पर जहाँ तक

नैसर्गिकता का प्रश्न है वे इसमें उसका स्पष्ट अभाव देखते हैं । क्लासिकल कविता में नैसर्गिक कविता की प्रणाली छूट जाती है और उसकी जगह कृत्रिम प्रणालियाँ बन जाती है । इसका प्रभाव कविता के मूल्यांकन पर भी पड़ता है ।

भारतेन्दु ने समाज-सुधार और देशभक्ति की भावनाओं के प्रचार के लिए कवियों को ग्रामगीतों की रचना करने का परामर्श दिया था । भट्ट जी 'ग्राम्य कविता' को सच्ची कविता के गुणों से युक्त बताते हैं । भट्ट जी क्लासिकल कविता को 'नागरिक कविता' कहते हैं और यह मानते हैं कि ''ग्राम्य कविता को मांजते-मांजते वही नागरिक उच्च श्रेणी की कविता बन जाती है ।'' नागरिक कविता के आरंभिक दौर के कवि 'चंदकवि, पद्मावत, सूर, तुलसी आदि को मानते हैं और उसकी पतनशील अवस्था रीतिकालीन कविता को ।

भट्ट जी जिस स्वच्छंदतावाद के समर्थक थे, वह प्रगतिशील स्वच्छन्दतावाद था क्योंकि उनहोंने हमेशा देश और समाज के कल्याण को ध्यान में रखकर काव्य रचना की बात कही । 'खड़ी बोली का पद्य' नामक पुस्तक की समीक्षा लिखकर उन्होंने कविता की भाषा के संबंध में इस प्रकार के विचार प्रकट किए थे : ''कविता के लिए उत्तम और उपयुक्त भाषा ओज, माधुर्य गुण विशिष्ट बुन्देलखंड की ही मर्दानी बोली है - क्योंकि भाषा कवियों के समूह के उसी प्रान्त में हुए हैं खैर उसके अभाव में मधुर पर जनानी ब्रज की भाषा भी उपयुक्त है - ठेठ बैसबारे की बोली की कविता न जाने क्यों मुझे बहुत ही भाती है - गोसाई तुलसी दास कविता में सब प्रकार की बोली पाई जाती है, इसी से वह अधिक सर्वसंगत और मधुर है ।''

भट्ट जी ने नाटकों के साथ-साथ भारतेन्दु युग के मौलिक और अनूदित उपन्यासों की भी समीक्षा की थी । 'हिन्दी प्रदीप' में जनवरी 1882 में 'उपन्यास' शीर्षक से उनका एक निबंध प्रकाशित हुआ था । उपदेशात्मकता को जैसे उन्होंने नाटकों के लिए दोष माना है । वैसे ही उपन्यासों के लिए भी क्योंकि उपन्यास ''प्रौढ़ बुद्धिवालों के लिए लिखे जाते हैं न कि निरे स्कूलों में 'क' 'ख' सीखनेवालों के लिए ।'' भट्ट जी ने इसी कसौटी पर लाल श्रीनिवासदास की 'परीक्षागुरु' बाबू गदाधर सिंह कृत हिन्दी अनुवाद 'बंग विजेता' और गोपालराम गहमरी कृत 'देवरानी-जेठानी' की समीक्षा भी लिखी ।

3. पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' - इनका जन्म 1855 ई० में तथा मृत्यु 1923 ई० में हुआ । प्रेमघन ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन के सभापति पद से 1912 में कलकत्ता में 'भारतीय नागरी भाषा' शीर्षक से एक लम्बा भाषण पढ़ा था । उसमें उन्होंने रीतिकाव्य की शृंगारिकता के लिए कवियों को दोषी ठहराते हुए कहा था - ''यह दोष रस का नहीं वरन् कवि का होता है । (प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग) रस के संबंध में यह अत्यन्त सुचिन्तित है । शृंगाररस अपने आप में बुरा नहीं है, बुरा है रीतिकाल के कवियों के द्वारा काव्य में किया गया उसका उपयोग । 'प्रेमघन' ने साहित्य के संबंध में भट्ट जी से मिलते जुलते अपने विचार करते हुए उसे नए युग की आवश्यकता की पूर्ति का साधन बनाने पर जोर दिया था । 'प्रेमघन' ने शृंगाररस को 'सामन्तों की माता' बतलाकर उसकी साहित्यिक रूचि पर तीखा व्यंग्य किया है ।

'प्रेमघन' ने 'दृश्य, रूपक वा नाटक' शीर्षक लेख माला में कहा है कि नाटक छोटे से छोटे विषय को लेकर रचा जा सकता है, बशर्ते उसमें नाटकीय सम्भावनाएँ वर्तमान हों । उन्होंने लिखा है : ''हमने भी अपने नगर में सुना है कि लड़के गोली और गुल्ली डंडे के खेल पर नाटक बनाते हैं हम इसको स्वीकार करेंगे कि चाहे कल का लड़का नहीं आज का हो और इससे भी क्षुद्र विषय पर कोई नाटक लिखे तो भी कोई दोष नहीं, पर नाटक हो तो ।'' इस

प्रसंग में उन्होंने शेक्सपियर का उदाहरण सामने रखा है :''देखना चाहिए कि यूरोप देश के विधा प्रभाकर महाकवि श्री शेक्सपियर के कई नाटक बहुत ही छोटे-छोटे विषयों पर लिखे गए और अत्यन्त छोटे और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध किस्से कहावतों पर भी उसने अपने नाटक बनाए पर पीपल के बीज से मानों बड़ा भारी वृक्ष कर सबकी बुद्धि चौकन्ना कर दिया । हिन्दी में नाटकों की रचना के साथ निश्चय ही ग्राम्यता एक समस्या के रूप में सामने आई होगी । 'प्रेमघन' ने आरंभ में ही उसके प्रति कठोर रूख अपनाया और इस तरह भाषा नाटकों में साहित्यिक स्तर को बनाये रखने पर बल दिया ।

'प्रेमघन' ने नाटक को अनुकरण मात्र मानकर सन्तोष नहीं किया बल्कि रंगमंच पर उसकी ऐसी प्रस्तुति पर बल दिया जिसमें अनुकार्य और अनुकर्त्ता का भेद मिट जाए और दर्शक भी 'तन्मय दशा' को प्राप्त हो जाए । 'प्रेमघन' ने फारसी थियेटर को तत्कालीन बंगला, मराठी और गुजराती रंगमंच से भी अधिक विकसित बतलाया है और उसकी प्रशंसा में कहा है । ''इनके परदे और नाट्यालय के सजावट के साज, सुन्दर और सजीले अभिनय के चारों गुण से युक्त पात्र और समस्त प्रकार की बनक, हाव, भाव, कटाक्ष, कहाँ तक गिनावें सभी अच्छा है ।

'प्रेमघन' के अनुसार पुस्तक समीक्षा का अधिकांश उपयोगिता साहित्यिक थी । 'प्रेमघन' की समीक्षा का अधिकांश भाग 'संयोगिता स्वयंवर' की त्रुटि को समर्पित है । 'हिन्दी प्रदीप' में 'संयोगिता स्वयंवर' के अलावा 'रणधीर प्रेममोहिनी', 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटकों पर भी भट्ट जी ने समीक्षात्मक टिप्पणियाँ लिखी थीं । इनमें से 'नीलदेवी' की समीक्षा किंचित विस्तृत थी । 'रणधीर प्रेममोहिनी' लाला श्रीनिवासदास का 'संयोगिता स्वयंवर' से पहले का नाटक है । यह नाटक भट्ट जी को पसंद आया था । उनके अनुसार 'ट्रेजेडी के किस्म का यह पहला नाटक है जो हिन्दी भाषा में रचा गया है ।' भारत दुर्दशा भी भारतेन्दु का ही नाटक है । इसके बारे में भट्ट जी ने कहा है :''यह नीलदेवी से भी बहुत बढ़-चढ़कर है इसके छन्दो दृश्य उत्तमोत्तम हैं पर पाँचवां दृश्य तो इतना उत्तम है कि हम कहाँ तक इसकी सराहना करें ।

4. प्रताप नारायण मिश्र - प्रताप नारायण मिश्र के पिता कानपुर आकर बस गए थे जहाँ प्रतापनारायण जी का जन्म सं० 1913 और मृत्यु 1951 में हुई । ये इतने मनमौजी थे कि आधुनिक सभ्यता और शिष्टता की कम परवाह करते थे । कभी लवनीबाजों में जाकर शामिल हो जाते थे, कभी मेलों और तमाशों में बंद इक्के पर बैठ जाते दिखाई देते थे । प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु को ही अपना लेखकीय आदर्श मानते थे, पर उनकी शैली में भारतेन्दु की शैली से बहुत विविधता भी लक्षित होती है । प्रतापनारायण जी में विनोदप्रियता विशेष थी इससे उनकी वाणी में व्यंग्यपूर्ण वक्रता की मात्रा प्रायः रहती है । इसके लिए पूरवीपन की परवाह न करके अपने बैसवारे की ग्राम्य कहावतें और शब्द भी बेधड़क रख दिया करते थे ।

मिश्र जी अपनी समीक्षा में नाटक को रंगमंच की दृष्टि से देखे जाने पर बल देते हैं । इसीलिए अपनी समीक्षा में नाटक की संवाद-योजना की चर्चा वे विस्तारपूर्वक करते हैं । वे पात्रानुकूल भाषा का महत्त्व स्वीकार करके भी क्लिष्ट संस्कृत शब्दों के प्रयोग पर आपत्ति करते हैं । भाषा का बहुत अधिक काव्यात्मक होना भी वे नाटक का दोष मानते हैं, क्योंकि इससे नाटक के मंचन में बाधा आती है । अपनी समीक्षा में यह जिसे 'समय की चेतना' कहकर रेखांकित करते हैं अपनी समीक्षा में मिश्र भी अपने ढंग से, उसे जरूरी मानते हैं । वे इसे ऐतिहासिक नाटक में देशकाल और पात्रों की भाषा के द्वारा पकड़े जाने पर जोर देते हैं । वे मानते हैं कि इनकी उपेक्षा करके नाटक के इतिहास बोध की रक्षा असंभव है ।

5. बालमुकुन्द गुप्त - इनका जन्म 1865 और मृत्यु 1907 ई० में हुई । बालमुकुन्द गुप्त मूलत: एक निबंधकार हैं और अपनी प्रसिद्ध कृति 'शिवशम्भू का चिट्‌टा' के कारण जाने जाते हैं । कुछ उर्दू पत्रों और समाचार पत्र 'बंगवासी' के सम्पादन बने । उनकी चुटीली और चुहलपूर्ण शैली के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें चलते पुरजे और बिनोदशील लेखक कहा है ।

बालमुकुन्द गुप्त का मुख्य काम व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में पुस्तक समीक्षा के रूप में अपनी समीक्षाओं में वे कृतियों को उनकी समग्रता में न देखकर केवल उनके दुर्बल पक्षों के उद्‌घाटन तक ही अपने को सीमित रखते हैं । कृतियों से पड़नेवाले सामाजिक प्रभाव को ही वे वरीयता देते हैं । उनके द्वारा समीक्षित कृतियों में हिन्दी के अतिरिक्त बंगला की पुस्तकें भी होती थीं । बालमुकुन्द की उल्लेखनीय समीक्षाओं में मुंशी उदित नारायण लाला द्वारा अनुवादित बंगला नाटक 'अश्रुमती', किशोरी लाल गोस्वामी के 'तारा उपन्यास', 'अधखिला फूल', 'गुलशन ए हिन्द', 'तुलसी सुधाकर', 'प्रवासी' की आलोचना आदि प्रमुख हैं ।

3.4 महावीर प्रसाद द्विवेदी युगीन आलोचना की प्रवृत्तियाँ एवं पद्धतियाँ

भारतेन्दु-युग के लेखकों के साहित्य पर उनकी सहृदयता और जीवन्तता की छाप है तो द्विवेदी युग के साहित्य पर कर्त्तव्यपरायणता और उपयोगिता की । द्विवेदी जी साहित्य को उपयोगिता की कसौटी पर आंकते थे । द्विवेदी युग में हिन्दी आलोचना का गंभीर एवं तात्विक रूप तो नहीं निखरा, किन्तु उनकी कई महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ अवश्य विकसित हुईं । सामान्यत: इस युग में हिन्दी आलोचना के पाँच रूप लक्षित किए जा सकते हैं -

1. शास्त्रीय आलोचना - संस्कृत आचार्यों की पद्धति पर लक्षण ग्रंथ प्रस्तुत करने की परम्परा रीतिकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी । द्विवेदी युग में भी इस परम्परा को जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने 'काव्य प्रभाकर' तथा 'छन्द सारावली' और लाला भगवानदीन ने अलंकार मंजूषा की रचना की । भानु जी ने भूमिका अंग्रेजी में लिखी और हिन्दी के अनेक पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय भी दिए हैं । दीन जी ने अलंकारों की समुचित जानकारी कराने के उद्देश्य से ही उपर्युक्त ग्रंथ की रचना की है । उन्होंने यथास्थल हिन्दी अलंकारों के समकक्ष फारसी, अरबी और अंग्रेजी अलंकारों का उल्लेख किया है । इससे प्रकट है कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे पाठकों का ध्यान दोनों ही लेखकों को रहा है ।

2. तुलनात्मक आलोचना - द्विवेदीयुगीन आलोचना की प्रमुख प्रवृत्ति तुलनात्मक मूल्यांकन । तुलनात्मक आलोचना का आरंभ 1907 ई० में पद्म सिंह शर्मा ने बिहारी और देव तुलना द्वारा किया । 1908-1912 ई० तक वे सरस्वती में संस्कृत और हिन्दी कविता के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की परीक्षा करते रहे । 1910 ई० में मिश्रबंधुओं का 'हिन्दी नवरत्न' प्रकाशित हुआ । इसमें भी तुलनात्मक आलोचना को महत्त्व दिया गया था । आगे चलकर तुलनात्मक आलोचना की धूम मच गई । लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी की विशद तुलना करते हुए एक दूसरे को बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया ।

3. अन्वेषण और अनुसंधान आलोचना - अन्वेषण और अनुसंधान आलोचना का विकास 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से हुआ । मिश्रबन्धु विनोद में भी शोधपरक दृष्टि को महत्त्व दिया गया था और कवियों के वृत्त संग्रह के साथ उनकी प्राप्य-अप्राप्य कृतियों की सूचना तथा उनके काव्य के संबंध में मत-प्रकाश भी किया गया था । मिश्रबंधुओं के शोधपरक आलोचना के उन्नायकों में श्यामसुंदर दास, जगन्नाथ रत्नाकर और सुधाकर द्विवेदी उल्लेखनीय है । इन सभी का सम्बन्ध नागरी प्रचारिणी पत्रिका' से रहा । 1902 ई० में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने जयपुर से समालोचक'

पत्र निकाला था । वह गंभीर आलोचना का पत्र था । अधिक दिनों तक इसका प्रकाशन नहीं हो सका किन्तु इससे आलोचना स्तर निश्चित रूप से ऊँचा हुआ था ।

4. परिचयात्मक आलोचना – परिचयात्मक आलोचना का आरंभ भारतेन्दु युग में ही हो गया था । द्विवेदी युग में सरस्वती के माध्यम से इस पद्धति में स्थिरता और गंभीरता आई तथा समीक्षा का आदर्श स्थिर हुआ । परिचयात्मक आलोचनाएँ आलोच्य कृति के सामान्य परिचय, उसकी प्रशंसा या निन्दा, आलोच्य विषय या कृति के संबंध में स्वतंत्र लेख, कृतिविशेष को किसी परम्परा या ऐतिहासिक संदर्भ में रखने की प्रवृत्ति तथा आलोच्य विषय के प्रति भावात्मक लगाव व्यक्त करते हुए प्रभावाभिव्यंजन के रूप में लिखी गई है । 'सरस्वती' में प्रकाशित परिचयात्मक आलोचनाएँ प्राय: महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा ही लिखी गई हैं । द्विवेदी जी ने विषय-विवेचन के साथ ही भाषा-संबंधी त्रुटियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया । आलोचना के क्षेत्र में उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है: यदि द्विवेदीजी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती है, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती ।''

5. व्याख्यात्मक आलोचना – व्याख्यात्मक आलोचना किसी रूढ़ि का अनुसरण न करके आलोच्य विषय की व्यापक उपयोगिता की दृष्टि में रखकर, नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों के आधार पर की जाती थी । कभी-कभी परिचयात्मक आलोचना विशद और गंभीर होने पर व्याख्यात्मक आलोचना का रूप ले लेती थी । इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात बदरी नारायण 'प्रेमघन' ने 'आनन्दकादम्बिनी' में लाला श्रीनिवास दास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से कर दिया था । बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी-प्रदीप में नीलदेवी, परीक्षा-गुरू और 'संयोगिता-स्वयंवर' की गंभीर आलोचना करके इस पद्धति को पुष्ट किया था । आलोचना की इस शैली का विशद वैज्ञानिक स्वरूप आगे चलकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समालोचनाओं में प्रतिष्ठित हुआ ।

उपर्युक्त सभी प्रकार की आलोचनाओं के प्रतिमान के रूप में दो दृष्टियाँ लक्षित होती हैं-एक तो परम्परागत शास्त्रीय दृष्टि, दूसरी नैतिक-सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि जो आलोच्य कृति के व्यापक प्रभाव के परिणाम को दृष्टि में रखकर अपनी श्रेष्ठता या हीनता घोषित करती थी ।

द्विवेदी युग में पाश्चात्य समीक्षकों की आलोचनात्मक कृतियों के कुछ अनुवाद भी प्रस्तुत किए गए । इस युग के आरंभ होने से कुछ वर्ष पूर्व जगन्नाथ दास रत्नाकर ने समालोचनादर्श नाम से पोप के 'एम्से ऑन क्रिटिसिज्म' का पद्यानुवाद प्रस्तुत किया । सन् 1905 में आचार्य शुक्ल ने एडिसन के एस्से ऑन 'इमेजिनेशन' का कल्पना का आनन्द नाम से अनुवाद किया । महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने काव्य-सिद्धान्त प्रतिपादक कुछ निबंधों में कई अंग्रेजी लेखकों का आधार लिया है । इन सारे प्रयत्नों ने ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की जिसपर आगे चलकर आचार्य शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी की वैज्ञानिक आलोचना का भव्य भवन निर्मित किया ।

3.5 प्रमुख आलोचक

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी- महावीर प्रसाद द्विवेदी सन् 1902 के दिसम्बर की 'सरस्वती' में बाबू श्यामसुन्दर दास की इस आशय की लम्बी विज्ञप्ति छपी थी कि अगले अंक से उसके सम्पादक वे न होकर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी होंगे और इसी के नीचे प्रकाशनार्थ रचनाएँ और समालोचनार्थ पुस्तकादि भिजवाने के लिए उनका झाँसी का पता दिया गया था जहाँ वे रेलवे में नौकरी करते थे । जब उन्होंने 'सरस्वती' का कार्यभार ग्रहण किया उनकी आयु लगभग 39

वर्ष थी । सरकारी नौकरी की सुरक्षा छोड़कर और भारी आर्थिक क्षति उठाकर वे 'सरस्वती' के सम्पादक हुए थे । फिर भी उन्हें संतोष था कि अंग्रेजी सरकार की अपमान भरी नौकरी के बदले उन्हें हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा का अवसर मिलेगा । द्विवेदी जी का 'कवि-कर्त्तव्य' नामक निबंध जुलाई 1901 की सरस्वती में छपा और 'नायिका भेद' नामक निबंध 'सरस्वती' के ही दिसम्बर 1903 के अंक में छपा था जब वे स्वयं उसका सम्पादन भार संभाल चुके थे । पहले लेख में कवि की सामाजिक और कलागत अपेक्षाओं पर प्रकाश डालते हैं । समय और समाज की रूचि के अनुसार सब बातों पर विचार करके हम यह लिखना चाहते हैं कि कवि कर्त्तव्य क्या है ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी कवि में श्रृंगार के नहीं, उसकी स्थूल और एकांगी परिणति के विरूद्ध थे । इसी तरह वे दरबारी कविता में आश्रयदाताओं अथवा दूसरे अमीर और सामाजिक दृष्टि से वर्चस्वशाली व्यक्तियों की झूठी प्रशंसा के विरोधी थे । उनका मानना था कि ऐसा करने से 'कविता की सीमा कट-छँट कर बहुत थोड़ी रह जाती है । इसी आधार वे उर्दू-काव्य की आशिकाना (श्रृंगारिक) प्रवृत्ति का विरोध करते हुए उसके अर्थ विस्तार की मांग करते हैं ।

रीतिकालीन सामंती कविता के विरूद्ध अपनी तीखी प्रतिक्रिया वे अपने 'नायिका भेद' शीर्षक निबंध में व्यक्त करते हैं । एक आलोचक के रूप में उनकी मुख्य चिन्ता कविता के सामाजिक प्रभाव की है । भर्त्सना वे इसलिए करते हैं क्योंकि इससे 'सदाचरण का सत्यानाश' होता है ।

आलोचना में द्विवेदी जी प्रमाण और साक्ष्य को विशेष महत्त्व देते हैं । तुलसीदास के प्रसंग में मिश्र बंधुओं ने लिखा कि वे संस्कृत के अच्छे ज्ञाता न थे और यह बात विशेषणों के अधिक प्रयोग एवं एक स्थान पर व्याकरण की एक अशुद्धि आ जाने से ठीक प्रतीत होती है ।' इस पर द्विवेदी जी की टिप्पणी है, 'परन्तु आपने उस एक अशुद्धि को नहीं बतलाया । आपकी ऐसी-ऐसी त्रुटियों को देखकर दुख होता है । उस एक अशुद्धि को बतला देने में कौन बड़ा परिश्रम था ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी आर्य समाज के नैतिक आग्रहों से भले ही युक्त न हों, लेकिन वे आग्रह उनके संस्कृत काव्य के रसास्वादन में बाधक नहीं थे । कालिदास उन्हें विशेष रूप से प्रिय थे । 'कालिदास' और उनकी कविता पुस्तक के साथ ही 'कालिदास की निरंकुशता' शीर्षक अपना दीर्घ निबंध द्विवेदी जी ने सन् 1910 में अपनी लम्बी बीमारी के दौरान 'सरस्वती' से अवकाश के बीच लिखा था । सन् 1911 में जनवरी में सरस्वती में पुनः वापसी के बाद कालिदास की निरंकुशता का प्रकाशन धारावाहिक हुआ । वे कालिदास के प्रशंसक थे, लेकिन कालिदास के दोष-दर्शन से उन्हें कोई परहेज नहीं था । कालिदास की आलोचना द्विवेदी जी ने कई आधारों पर की । कालिदास अपनी उपमाओं के लिए विशेष रूप से जाने जाते हैं । यहाँ तक कहा जाता है कि उपमाओं के मामले में कोई उनकी बराबरी नहीं कर सकता । द्विवेदी जी ने 'रघुवंश' जैसे श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित काव्य से उनकी 'उपमा की हीनता' के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये ।

काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली के विकास में द्विवेदी जी की भूमिका का उल्लेख प्रायः उनके सभी आलोचकों ने किया है । एक सम्पादक के रूप में मैथिलीशरण गुप्त उनकी ही खोज थे । महावीर प्रसाद द्विवेदी के महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है - 'द्विवेदी जी ने एक निश्चित मत और निश्चित कार्यक्रम के अनुसार हिन्दी के ज्ञान काण्ड को समृद्ध करने का बीड़ा उठाया था । उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि हिन्दी गद्य का विकास किए बिना इस गद्य में ज्ञान साहित्य लिखे बिना जातीय संस्कृति का विकास संभव न होगा ।' (महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, संस्करण 1977, पृ० 383)

2. मिश्र बंधु – गणेश बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र और श्यामबिहारी मिश्र नामक तीन भाई 'मिश्रबन्धु' सम्मिलित नाम से आलोचना लिखते थे । ये दरबारी श्रृंगारी काव्य के रसिक थे, लेकिन द्विवेदी युगीन नैतिक आग्रहों से अनुशासित थे । इन्होंने अनेक प्रसिद्ध कवियों पर स्वतंत्र निबंध लिखे जिनमें से अधिकतर का प्रकाशन सरस्वती में हुआ । 'हिन्दी नवरत्न' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है जिसमें उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी काव्य में से नौ कवियों का चयन करके उनकी जीवनियों के साथ उनके काव्यगत वैशिष्ट्य को भी उद्‌घाटित किया । नौ कवि इस प्रकार हैं – गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम, केशवदास, कबीर, चन्दवरदायी और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ।

परवर्ती हिन्दी आलोचना में जिसे तुलनात्मक आलोचना के रूप में जाना गया, उसके प्रवर्तन का श्रेय भी बहुत कुछ इन मिश्र बंधुओं को ही जाता है । कवियों के उनके चयन में भी तुलना की यह प्रवृत्ति सक्रिय देखा जा सकता है । वे बाकायदा अध्यापकों की तरह कवियों का श्रेणी विभाजन करते हैं । यह ठीक है कि मिश्र बन्धुओं के साहित्यिक संस्कार रीतिकाव्य से अर्जित और निर्मित थे, लेकिन अपने समय की आहट के प्रति वे पूरी तरह उदासीन नहीं थे । समीक्षा की एकांगिता–प्रशंसा और निन्दा के दो छोर का अवरोध भी उन्हें था । वे आलोचना को एक गंभीर और नैतिक उद्यम के रूप में परिभाषित करते दिखाई देते हैं । जब वे आलोचना को झूठी प्रंशसा और अकारण निन्दा से ऊपर रखने की बात करते हैं तो वे वस्तुतः उस वस्तुपरक पर ही जोर दे रहे होते हैं जिसके अभाव में किसी भी आलोचना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता । आलोचना में कविता को ही वे विवेचन का मूलाधार स्वीकार करते हैं, कविता को आधार बनाकर सिद्धान्तों के विवेचन के वे अधिक पक्षपाती नहीं थे । वे मानते थे कि कविता को आधार बनाकर किसी सिद्धान्त के विवेचन से आलोचना साहित्यिक समालोचना के स्थान पर कथित सिद्धान्तों पर निबंध मात्र बन जाएगी ।

3. कृष्ण बिहारी मिश्र – कृष्ण बिहारी मिश्र, मिश्रबन्धुओं की तरह ही देव के पक्षधर आलोचक थे और पद्मसिंह शर्मा द्वारा बिहारी के समर्थन और देव की उपेक्षा से खिन्न थे । उनकी पुस्तक 'देव और बिहारी' का महत्त्व इस पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है । इसमें उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से देव की काव्योपलब्धियों को उद्‌घाटित किया है । वे देव की रीतिकाल के प्रमुख कवियों में परिगणित किए जाने पर जोर देते हैं । उनकी काव्यवस्तु और भाव–सम्पदा को अत्यन्त समृद्ध मानकर वे दूसरे रीतिकालीन कवियों से उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं ।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने इस बात के लिए कृष्ण बिहारी मिश्र की प्रशंसा की है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम लिए बिना वे आलोचना में उनकी अतिरंजित नैतिक दृष्टि का विरोध करते हैं जो काव्येत्तर दबाव के कारण समूची श्रृंगारी कविता के ही मूल्यांकन में बाधा उपस्थित कर रही थी । कृष्ण बिहारी मिश्र की काव्य सम्बन्धी धारणाओं और आलोचना दृष्टि की उल्लिखित विशेषताओं का दर्शन उनके द्वारा सम्पादित 'मतिराम ग्रंथावली' की भूमिका में भी किया जा सकता है ।

4. पद्मसिंह शर्मा – पद्मसिंह शर्मा को तुलनात्मक आलोचना का प्रवर्तक माना जा सकता है । बिहारी उनके प्रिय कवि थे और 'बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन' नामक उनकी पुस्तक पहली बार सन् 1918 में प्रकाशित हुई । अपनी इस पुस्तक में पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के काव्य की व्याख्या करते हुए अनेक कवियों से उनकी तुलना करते हुए उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की । अपनी आलोचना में शर्मा जी ने श्रृंगार रस के महत्त्व पर भी विचार किया और उसकी व्यापकता का प्रतिपादन करने हुए अपने युग में प्रचलित श्रृंगार विरोधी विचारों की तीखी आलोचना की । पद्मसिंह शर्मा ने श्रृंगार रस के समर्थन में उत्साहपूर्ण टिप्पणी की, बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता को स्वीकार तो किसी प्रकार कर लेते हैं पर श्रृंगार रस उनके निर्मल नेत्रों में कुछ खार सा या तेजाब सा खटकता है । वह श्रृंगार

की रसीली लता को विषैली समझकर कविता के वाटिका से एकदम जड़ से उखाड़ फेंकने पर तुले खड़े हैं । 'बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन' में शर्मा जी सतसई काव्य के उद्‌भव और विकास पर विस्तारपूर्वक विचार करने के साथ ही सतसई के आदर्श ग्रंथ, अर्थापहरण विचार सतसई के दोहे और विवेचना विनोद पर भी विचार करते हैं ।

5. लाला भगवान दीन – लाला भगवान दीन अपने नाम के आगे 'दीन' उपनाम भी जोड़ते थे । उनकी काव्य रूचियाँ भी रीतिकाव्य से ही अपना हवा-पानी ग्रहण करती हैं । देव और बिहारी सम्बन्धी विवाद में वे बिहारी के समर्थक थे । कृष्ण बिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' के उत्तर में 'बिहारी और देव' लिखी । अपनी इस पुस्तक में वे बिहारी के विरोधी आलोचकों द्वारा बिहारी पर लगाए गए आरोपों का न सिर्फ विस्तार से उत्तर देते हैं, उन दोषों को वे उल्टे देव पर थोप देते हैं ।

बिहारी के बाद उनकी पसन्द के दूसरे कवि केशव दास थे । केशव की तुलना में भी वे देव को निकृष्ट कवि सिद्ध करने को कटिबद्ध दिखाई देते हैं । आलोचक के रूप में अपनी पसंद के कवियों के जीवनानुभव और कलागत वैशिष्ट्य के उद्‌घाटन की अपेक्षा वे व्यर्थ के विवादों में अधिक उलझाते हैं और द्विवेदी-युग की निष्कर्षवादी आलोचना के हिसाब से अपना निर्णय सुनाने को उतावले दिखाई देते हैं ।

6. बाबू श्याम सुन्दर दास – आलोचक से अधिक उनका महत्त्व हिन्दी भाषा और साहित्य के पठन-पाठन में विकास की दृष्टि से है । बाबू श्याम सुन्दर दास ने हिन्दी भाषा और लुप्तप्राय अनेक कवियों पर खोजपूर्ण लेख लिखे । बाबू श्यामसुन्दर दास लिखित तीनों पुस्तकें 'भाषा विज्ञान', 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'साहित्यालोचन' वस्तुतः एम० ए० के पाठ्यक्रम की दृष्टि से तैयार की गई थी ।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' में साहित्य कविता गद्यकाव्य, दृश्यकाव्य, रस शैली और साहित्य की आलोचना से संबंधित पाश्चात्य लेखकों के विचारों को बहुत क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया । वे केवल सामग्री का संकलन ही नहीं करते संकलन तो वह है ही, उसके पक्ष-विपक्ष में अपना अभिमत भी प्रकट करते हैं । इसी कारण इस संकलन में भी एक विशेष प्रकार की चमक दिखाई देती है । सभा द्वारा संचालित पत्रिका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और सरस्वती का उन्होंने सम्पादन भी किया । उनके द्वारा लिखित और सम्पादित संकलित पुस्तकों की संख्या 100 है ।

3.6 अभ्यास के प्रश्न

1. शुक्ल पूर्व हिन्दी आलोचना के उद्‌भव और विकास पर एक सारगर्भित लेख लिखिए ।
2. हिन्दी आलोचना के भारतेन्दुयुगीन प्रवृत्तियों का विवेचन कीजिए ।
3. हिन्दी आलोचना के द्विवेदीयुगीन प्रवृत्तियों और पद्धतियों का उल्लेख करें ।
4. शुक्लपूर्व हिन्दी आलोचकों का संक्षिप्त परिचय दीजिए ।

हिन्दी आलोचना और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

पाठ संरचना

4.0 उद्देश्य
4.1 परिचय
4.2 हिन्दी आलोचना और शुक्ल
4.3 अभ्यास के प्रश्न

4.0 उद्देश्य

द्विवेदी-युगीन सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना छायावादी युग में विकसित और समृद्ध हुई । छायावादी युग में इसका श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है, जिसके कारण इस युग को शुक्ल युगीन आलोचना के नाम से जाना जाता है । इस इकाई का उद्देश्य हिन्दी आलोचना और आचार्य शुक्ल से पाठकों को अवगत कराना है ।

4.1 परिचय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचनात्मक चेतना का विकास द्विवेदी युग में ही हुआ था और कविता-कहानी की ओर भटककर अन्ततः वे आलोचना की ओर आए थे । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी आलोचना के युगपुरुष हैं । आलोचना के लिए अपनी दृष्टि और कार्य-भार उन्होंने भारतेन्दु युग की उसी सामाजिक-नैतिक चेतना से ग्रहण किए थे जिसका विकास एक रीतिवाद विरोधी अभियान के रूप में, महावीर प्रसाद द्विवेदी में दिखाई देता है । एक आलोचक के रूप में शुक्ल जी की सबसे महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी भूमिका यह थी कि निजी पसंद-नापसंद वाली आलोचना को खारिज करके उन्होंने साहित्य के वस्तुवादी का विकास किया और सामाजिक विकास की समान्तरता में साहित्य को देखने परखने पर बल दिया ।

4.2 हिन्दी आलोचना और शुक्ल

हिन्दी आलोचना-जगत में शुक्ल का प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में लिया जाता है, क्योंकि वास्तविक आलोचना का स्वरूप यहीं से स्थिर होता है । अपने आलोचनात्मक प्रतिमानों के निर्माण और निर्धारण के लिए वे सीधे रचना के पास जाते हैं और रचना एवं सामाजिक व्यवहार के आधार पर अपने प्रतिमानों को व्यवस्थित करते दिखाई देते हैं । भारतीय इतिहास के मध्यक्षेत्र को उन्होंने विशेष रूप से अपना कर्मक्षेत्र चुना और भक्ति-आन्दोलन की पीठिका को विस्तारपूर्वक देखने-परखने की पहल की । संस्कृत में वाल्मीकि और भवभूति तथा हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास

उनके प्रिय कवि हैं । अपने मूल्यांकन के लिए जो प्रतिमान उन्होंने विकसित किए उनका प्रधान उपजीव्य इन कवियों की रचनाएँ ही रही हैं । इन्हीं को आधार बनाकर वे सामंती और दरबारी संस्कृति के विरोध में लोक-संस्कृति की प्रतिष्ठा करते हैं ।

तुलसीदास के आदर्श नायक राम के प्रति उनके युग की जनता के अदम्य आकर्षण के कारणों पर उनकी टिप्पणी है, 'जनता ने लोक की रक्षा करनेवाले प्राकृतिक धर्म का मनोहर रूप देखा । उसने धर्म को दया, दाक्षिण्य, नम्रता, सुशीलता, पितृभक्ति, सत्यव्रत, उदारता, प्रजापालन क्षमा आदि में ही नहीं देखा बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वंस आदि में भी उसे देखा । अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन दुखियों को सताने वालों का जो संहार किया जाता है, कठिन कर्त्तव्यों का पालन करने में जो वीरता प्रकट की जाती है, उसमें भी धर्म अपना मनोहर रूप दिखाता है । जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है - जिससे समाज चलता है - वह यही व्यापक धर्म है ।' (गोस्वामी तुलसीदास संस्करण 1970, पृ० 20) लोकधर्म की अपनी इस अवधारणा को और स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं 'संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा वही लोकधर्म होगा ।' (वही पृ० 21) लोकमंगल की प्रतिष्ठा वाला अपना आलोचना सिद्धान्त उन्होंने मूलत: इन्हीं तुलसीदास के आधार पर निर्मित किया । 'रामचरित मानस' के राम और 'शिशपाल वध' के कृष्ण उन्हें इसलिए प्रिय हैं क्योंकि वे सक्रिय प्रतिरोध के द्वारा दमन और आतंक का प्रतिकार करके लोकमंगल की स्थापना में प्रवृत्त होते हैं । शुक्ल जी इस प्रतिरोध चेतना को प्रेम और करूणा से जोड़कर देखते हैं । भारतीय महाकाव्यों के सन्दर्भ में करूणा की व्यापकता स्वत: सिद्ध है । करूणा के विरोधी भाव के रूप में वे क्रोध से उसका सामंजस्य करते हैं । व्यक्तिगत क्रोध को त्याज्य ठहराकर वे उस क्रोध का समर्थन और सराहना करते हैं जो लोक रक्षा और लोकमंगल का निमित्त है । क्षमा जहाँ श्रीहत हो जाती है वहीं क्रोध में सौंदर्य का आरंभ होता है । वाल्मीकि के भीतर प्राणिमात्र की सहानुभूति छिपी है । राम के क्रोध के भीतर सम्पूर्ण लोक के दुख का क्षोभ समाया हुआ है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रति प्रगतिवादी आलोचना रवैया शुरू से ही दुविधापूर्ण रहा है । शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, नामवर सिंह आदि आलोचक किसी न किसी रूप में शुक्ल जी को भाववादी, ब्राह्मणवादी और वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक आलोचक मानते थे । यशपाल ने तो यहाँ तक कह दिया कि शुक्ल जी का महत्त्व केवल छात्रों की दृष्टि से है । इसी वक्तव्य की प्रतिक्रिया में डॉ० रामविलास शर्मा ने 'हिन्दी आलोचना और रामचंद्र शुक्ल' लिखी जिसमें उन्होंने शुक्ल जी के सामन्त विरोधी स्वरूप और सर्वत्र सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि में साहित्य के मूल्यांकन की उनकी प्रवृत्ति को उद्घाटित किया ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भौतिकवादी नहीं थे । वे ईश्वर और धर्म में विश्वास रखनेवाले एक आस्तिक व्यक्ति थे । लोकमंगल की प्रतिष्ठा के माध्यम से शुक्ल जी साहित्य में कलावाद के विरूद्ध एक लम्बी और निर्णायक लड़ाई लड़ते हैं, काव्य में प्रकृति और जनजीवन के चित्रण को अनिवार्य बताकर वे जिन मूल्यों की हिमायत करते हैं जिनके आधार पर वे रीतिकाल के बहुत बड़े भाग को खारिज कर देते हैं और जायसी जैसे विजातीय कवि को प्रतिष्ठित करते हैं - इन सारी बातों की उपेक्षा के कारण ही नीलकान्त का प्रयास आचार्य शुक्ल के उद्देश्यवाद की व्यर्थता एक करूण साक्ष्य बनकर रह गया है ।

अपनी अपूर्ण और अधूरी पुस्तक 'रामचन्द्र शुक्ल' में मलयज एक 'विवेक पुरुष' कहकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मूल्यांकन करते हैं । 'पृष्ठभूमि' में वे शुक्ल जी को अपने युग-संदर्भों की उपज बताते हुए भी उसके उस

मौलिक विवेक की ओर संकेत करते हैं जो अन्ततः उन्हें एक इतिहास-पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करता है । उनकी क्रांतिकारी ऐतिहासिक भूमिका पर टिप्पणी करते हुए मलयज लिखते हैं, 'आज यह खुले मन से कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल से पहले साहित्य को शास्त्र करके दिखाने वाली आँखें ही थीं, साहित्य को 'मर्म' कहकर बताने वाली आँखें नहीं । शुक्ल जी की दृष्टि पुराने और नए तथ्य और भाव, शास्त्र और मर्म के बीच सिर्फ समन्वय या तालमेल की दृष्टि न थी, बल्कि अपने विवेक की तुला पर तौलकर साहित्य और जीवन का ऐसा रसायन तैयार करने की थी जो मनुष्य के अर्थ को उसकी तात्कालिकता में भी और उसकी चिरन्तनता में भी दूर तक प्रकाशित कर दे । साहित्य में खोज और पड़ताल उस विवेक की कसौटी है, जिसे सम्भव बनाकर आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में पहली बार वास्तविक आलोचना-कर्म को सम्भव बनाया । (रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 23)।

मलयज कहीं भी अलग से शुक्ल जी की प्रासंगिकता की चर्चा नहीं करते । लेकिन जगह-जगह वे इस सवाल से टकराते दिखाई देते हैं कि यदि आज शुक्ल जी होते तो हमारे अपने समय की कविता के प्रति उनका क्या रूख होता ? मलयज का अनुमान है कि आज की जनोन्मुख और पक्षधर कविता की शायद वे वैसी ही आलोचना करते जैसी उन्होंने कबीर की कविता की क्योंकि वे कविता में अनुभूति पक्ष पर बल देने के साथ ही उसमें वास्तविक जीवन के चित्रों को महत्त्व देनेवाले आलोचक थे । शुक्ल जी के कुछ बीज शब्दों की ओर संकेत करके मलयज उनकी आलोचनात्मक सरोकारों की तह तक पहुँचने की कोशिश करते हैं । प्रकृत, सामाजिक, असली, गृहस्थ, भद्दा, बेधड़क, ठीकठाक आदि शब्दों का प्रयोग करके वे कुछ जीवन मूल्यों के विरोध में एक भिन्न मूल्य-दृष्टि की प्रतिष्ठा पर बल देते हैं और काव्य के मूल्यांकन के लिए यही से अपने प्रतिमान भी उठाते और गढ़ते हैं ।

आचार्य रामचन्द्र द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1929 में प्रकाशित हुआ, जो वस्तुतः हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के रूप में लिखा गया था । हिन्दी साहित्य के सभी कालों, प्रवृत्तियों के रचनात्मक विकास और लेखकों पर यहाँ उनकी टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं । उनके निबंधों का संग्रह 'चिन्तामणि' का प्रथम भाग भी उनके जीवनकाल में सन् 1939 में प्रकाशित हो गया था । इसके निबंधों को उन्होंने स्वयं 'विचारात्मक निबंध' कहा है और 'कविता क्या है' शीर्षक उनके प्रसिद्ध निबंध के अतिरिक्त कुछ मनोवैज्ञानिक एवं अन्य विषयों पर भी निबंध इस संग्रह में हैं । इन निबंधों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप' आदि शामिल हैं । 'चिन्तामणि' का दूसरा भाग उनके निधन के बाद सन् 1945 में उनकी अन्य मरणोपरांत प्रकाशित पुस्तकों की तरह ही विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सम्पादन में प्रकाशित हुआ । उसमें उनके तीन लम्बे निबंध 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शामिल हैं । 'चिन्तामणि' का तीसरा भाग सन् 1983 में डॉ० नामवर सिंह के सम्पादन में प्रकाशित हुआ । शुक्ल जी कविता के आलोचक हैं लेकिन गद्य के विकास, प्रवृत्तियों और लेखकों पर भी उनकी टिप्पणियाँ बहुत सटीक और सारगर्भित हैं । हिन्दी कथा साहित्य के मूल्यांकन के सन्दर्भ में भी उनकी कुछ सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि सम्पन्न टिप्पणियाँ उल्लेखनीय हैं ।

अपने प्रसिद्ध निबंध 'कविता क्या है' में कविता को परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं, 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं ।'' (चिन्तामणि-1 संस्करण 71, पृ० 113) कविता बाह्य प्रकृति और मनुष्य के अंतः प्रकृति के बीच सामंजस्य स्थापित करती है । शुक्ल जी कविता में चमत्कारवाद के विरोधी हैं और कविता की अन्तर्वस्तु एवं अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर सहजता एवं संप्रेषणीयता के

पक्षपाती हैं । साधारण मनुष्य की चिन्ता उनके काव्य प्रतिमानों के निर्धारण का मूलाधार है । उनके समय तक भावुकता का आज जैसा अवमूल्यन नहीं हुआ था और सामान्यत: कवि के भावुक होने के अर्थ उसकी अनुभूतिशीलता से जोड़ा जाता था । इससे काव्य में भावसाधना के साथ ही मार्मिक स्थलों की पहचान में कवि को सहायता मिलती थी । इसी भावुकता को वे कविता के मूलगुण के रूप में रेखांकित करते हैं क्योंकि इसी से अनुभूति की तीव्रता संभव होती है । इसी आधार पर वे तुलसी, जायसी और सूरदास के साथ हिन्दी की समूची काव्य परम्परा का आदिकाल से लेकर छायावाद तक मूल्यांकन करते हैं ।

तुलसीदास के मूल्यांकन में यदि एक ओर वे उनकी भक्तिपद्धति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं तो दूसरी ओर वे शील-साधना और ज्ञान से उसके अन्तर्संबन्धों की व्याख्या भी करते हैं । स्थान-स्थान पर उन्होंने तत्त्वज्ञान का सन्निवेश भले ही किया हो, परन्तु अपने लिए उन्होंने कोई सिद्धान्त स्थिर करने का प्रयत्न नहीं किया । भक्ति मार्ग का अनुगामी होने के कारण तर्क-वितर्क उन्हें अरूचि व्यसन जैसा लगता है । अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए शुक्ल जी इसी बात पर बल देते हैं कि तुलसीदास भक्तिमार्गी थे, अत: उनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ढूँढ़ना ही अधिक फलदायी होगा । ज्ञानमार्ग के सिद्धान्तों को वहाँ ढूँढ़ने से कोई लाभ नहीं है ।

तुलसीदास के मूल्यांकन के संदर्भ में आचार्य शुक्ल के बीजशब्द 'समन्वय' और 'सर्वांगपूर्णता' है । इन्हीं के आधार पर वे तुलसीदास का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं । शुक्ल जी की दृष्टि में तुलसी की भक्ति पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता उनकी यही सर्वांगपूर्णता है । वह जीवन के किसी पक्ष को छोड़कर नहीं चलती । सब पक्षों के सामंजस्य पर ही उनका विशेष बल है । तुलसीदास की भक्ति पद्धति में यदि कर्म और धर्म का महत्त्व है तो वे इसको त्यागने के पक्ष में नहीं है । वे भक्ति और ज्ञान का एक सर्वस्वीकार्य रसायन तैयार करते हैं । लेकिन उनका ज्ञान भी सूखा और लंठ न होकर रस के छींटों से सिक्त है जिसमें वे एक सीमा तक योग को भी स्वीकार करके चलते हैं ।

तुलसीदास के बाद शुक्ल जी के दूसरे कवि प्रिय जायसी हैं । ऐसा नहीं है कि शुक्ल जी से पहले लोग जायसी से अपरिचित थे या प्रेममार्गी निर्गुण कवि के रूप में उनकी प्रतिष्ठा नहीं थी । शुक्ल जी ने 'जायसी ग्रंथावली' का सम्पादन किया और जायसी पर लिखी गई उसकी लम्बी भूमिका में उनका महत्त्व विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया । शुक्ल जी काव्य में रहस्यवाद के साम्प्रदायिक और जटिल रूप में विरोधी थे । इसी आधार पर वे विलियम ब्लेक, कबीर और रवीन्द्रनाथ के रहस्यवादी काव्य की आलोचना करते है लेकिन रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' की उन कविताओं को 'रमणीय' मानकर वे अपनी स्वीकृति देते हैं जो लोकपक्ष समन्वित है । वे कविता में गोचर और लौकिक अभिव्यक्ति के हामी थे ।

शुक्ल जी जायसी की अचूक पहचान का साक्ष्य देने पर भी जायसी के 'पद्मावत' को तुलसी के 'रामचरितमानस' के बाद ही स्थान देते हैं । इसका कारण यह है कि वे काव्य में जीवन की समग्रता के पक्षपाती थे । तुलसी का 'रामचरितमानस' जीवन की व्यापकता को अंकित करता है, जीवन का कोई भी पक्ष उससे छूटा नहीं है जबकि जायसी का 'पद्मावत' एक प्रेमाख्यान के रूप में अपनी सारी संश्लिष्टता और सघनता के बावजूद प्रेमानुभूति को ही गहराई से चित्रित करता है, लेकिन 'पद्मावत' का सबसे महत्त्वपूर्ण उसका लोकपक्ष है जिसकी शुक्ल जी भरपूर सराहना करते हैं । मुसलमान होकर भी हिन्दू समाज और उसकी संस्कृति का जैसा अंतरंग चित्र जायसी यहाँ अंकित करते हैं, वह अनेक हिन्दू कवियों के लिए दुर्लभ है । आध्यात्मिक और साधनात्मक दृष्टि से विचार किए जाने पर नागमती ईश्वर की प्राप्ति में एक बाधा के रूप में अंकित होने पर भी एक सामान्य नारी के रूप में उसकी विरह वेदना पर शुक्ल जी मुग्ध दिखाई देते हैं । उस पर उनकी टिप्पणी है, 'जायसी के भावुक हृदय ने स्वकीया के पुनीत प्रेम

के सौन्दर्य को पहचाना। नागमती का वियोग हिन्दी साहित्य में विप्रलंभ शृंगार का अत्यंत उत्कृष्ट निरूपण है। (जायसी ग्रंथावली पृ० 34) विप्रलंभ शृंगार के चित्रण में, तुलसी सहित हिन्दी के समस्त कवियों में वे जायसी को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

तुलसीदास और जायसी के बाद सूरदास तीसरे कवि हैं जिनपर शुक्ल जी ने स्वतंत्र रूप से लिखा है। शुक्ल जी की मृत्यु के उपरांत उनकी पुस्तक सन् 1943 में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सम्पादन में प्रकाशित हुई। इसके पाँच वर्ष बाद पुस्तक के दूसरे संस्करण में सम्पादकीय वक्तव्य से यह सूचना भी मिलती है कि 'सूरदास' के प्रकाशित होने पर कुछ संतों ने उसकी तीव्र आलोचना की थी। एक समीक्षक ने सबसे बड़ी आपत्ति यह उठाई थी कि शुकदेव जी की भक्ति के आवेश को रसदशा कहना केवल अपने पक्ष का समर्थन करने का आग्रह ही है, वस्तुतः रहस्यादर्शों के 'दर्शन' और भक्ति की तल्लीनता में कोई अन्तर नहीं है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र उसके उत्तर में कहते हैं कि 'जिन्हें सूत्ररूप में रहस्यदशा और रसदशा का पार्थक्य यहाँ जानना हो उन्हें जान लेना चाहिए कि पहली व्यक्ति भूमि की अनुभूति है और दूसरी लोकभूमि की। पहली सत्ता का परोक्ष रखकर होती है और दूसरी उसे प्रत्यक्ष करके। शुक्ल जी की उक्ति 'प्रलाप' नहीं है, उसका निश्चित और बुद्धिबोधित अर्थ होता है।' (सूरदास, संस्करण 69, पृ० 2)।

शुक्ल जी सूर को वात्सल्य और शृंगार का अप्रतिम कवि स्वीकार करते हैं। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक उनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। शुक्ल जी जायसी की अपेक्षा सूर के प्रेम चित्रण को, उदात्मकता और अतिरंजना के विरूद्ध सहज और स्वाभाविक बताकर सूफी प्रेम-परम्परा की तुलना में भारतीय प्रेम पद्धति को लेकर श्रेष्ठ बताते हैं। शुक्ल जी की दृष्टि में सूर का विशेष महत्त्व उनकी भाषा के कारण है। 'सूर सागर' के रूप में शुक्ल जी के समय तक, पहली उपलब्ध कृति इन्हीं की थी। अपनी पूर्णता के कारण वह उन्हें आश्चर्य में डालती है। वे लिखते हैं, 'पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखनेवालों को उलझन में डालनेवाली होगी। 'सूरसागर' किसी चली आती हुई परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो-पूर्ण विकास सा जान पड़ता है, आगे चलनेवाली परम्परा का मूल रूप नहीं।' (सूरदास, दूसरा संस्करण, पृ० 129)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आलोचना न होने पर भी उनकी आलोचना दृष्टि को समझने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य के काल विभाजन, प्रवृत्तियों, सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों के विश्लेषण के अतिरिक्त लेखकों पर उनकी संक्षिप्त आलोचनात्मक टिप्पणियाँ साहित्येतिहास होने पर भी आलोचना के रूप में भी उसे उल्लेखनीय बनानेवाली चीजें हैं। इस तरह वह उनकी आलोचना का ही हिस्सा है - उनका विश्लेषण, विवेचन यहाँ सम्पूर्णता प्राप्त करता है। जैसा कि उल्लेख किया गया है, इसका पहला संस्करण हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के रूप में सन् 1929 में और फिर संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण सन् 40 में प्रकाशित हुआ था। विशेष ढंग की रचनाओं के प्रचुरता के आधार पर आदिकाल को वीरगाथा काल कहा। शुक्ल जी का मन सबसे अधिक भक्तिकाल के विवेचन में रमता है। उनके द्वारा लिखी 'त्रिवेणी' पुस्तक तीन प्रमुख भक्त कवियों पर है। कबीर को वे बड़े हल्के हाथों से पकड़ते हैं। शुक्ल जी मानते हैं कि कबीर ने भारतीय ब्राह्मणवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद में से अलग पंथ खड़ा किया। भाव सघनता के अभाव और अनुभूति की विरलता के कारण वे कबीर को वैसी सहानुभूति से नहीं देखते लेकिन अपने मूल्यांकन में वे कबीर के वैशिष्ट्य को पकड़ने की अपनी क्षमता या परिचय अवश्य देते हैं। वे लिखते हैं, 'ज्ञान मार्ग की बातें कबीर ने हिन्दू, साधु-संन्यासियों से ग्रहण की जिनमें सूफियों के सत्संग से उन्होंने 'प्रेमतत्त्व'

का मिश्रण किया और अपना एक एक अलग पंथ चलाया । उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करनेवाले और कर्मकांड को प्रधानता देनेवाले पंडितों और मुल्लाओं दोनों को उन्होंने खरी-खरी सुनाई और 'राम-रहीम' की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उद्देश्य दिया । देशांतर और उपासना विधि के कारण मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही । यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य पूर्ण बातें निकलती थीं । उनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था ।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 80)

आचार्य शुक्ल की विवेचन -पद्धति की एक सामान्य प्रवृत्ति यह है कि वे जिस लेखक या प्रवृत्ति की चर्चा करते हैं उसके सकारात्मक पक्षों की भी उपेक्षा नहीं करते । ऐसा नहीं है कि उनमें एक आलोचक के रूप में पूर्वग्रह न हों, लेकिन अपने विवेचन में पर्याप्त वस्तुपरकता का परिचय देते हैं । रीतिकाल विरोध आलोचना दृष्टि अपनी प्रखरता और तेजस्विता के लिए जानी जाती है । केशव को उन्होंने 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा और बिहारी सहित अनेक रीतिकालीन कवियों की उहात्मक उक्तियों की उन्होंने व्यंग्य और कटाक्षपूर्ण आलोचना की है । रीतिकाव्य में वही वे मतिराम की प्रशंसा उनके काव्य की सरलता और स्वाभाविकता के लिए करते हैं । उनमें न उन्हें मानो के स्तर पर कृत्रिमता मिलती है न भाषा के । उनकी प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं, "भाषा के ही समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न उनके व्यंजक, व्यापार और चेष्टाएँ । भावों को आसमान चढ़ाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े हैं । नायिका के विरह ताप को लेकर बिहारी के समान मजाक उन्होंने नहीं किया । इनके भाव व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और नहीं किया । इनके भाव व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है बिहारी के समान चमकदार नहीं ।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 244)

शुक्ल जी मानते हैं कि मैं मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और मुकुटधर पाण्डेय आदि द्वारा प्रवर्तित काव्य की नूतन धारा में ही छायावाद का आभास मिलने लगा था । इसी के आसपास रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थीं । उनका मानना है कि पुराने ईसाई संतों ने छायाभास (फैंटास या भाटा) तथा योरपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (सिंवालिज्म) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं । 'छायावाद' नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु विन्यास की वि शृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले । काव्य की इस प्रकृति को शुक्ल जी अपनी प्रकृति में भारतीय नहीं मानते और न ही उसका कोई सामाजिक आधार उन्हें दिखाई देता है । वे अनेक स्तरों पर इसे रहस्यवाद, प्रतीकवाद, कलावाद, और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से जोड़कर इसकी आलोचना करते हैं ।

छायावाद सम्बन्धी शुक्ल जी के इस विवेचन में भी एकांगिता नहीं है । वे उसके अनेक सकारात्मक पक्षों की सराहना रहस्यवाद और प्रतीकवाद के प्रभाव में यह काव्य प्रवृत्ति प्रेमगान के सीमित से बाहर आकर अपने अनुभव संसार को व्यापक बना रही है । वे लिखते हैं, 'हर्ष की बात है कि अब कई कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जगत और जीवन के मार्मिक पक्षों की ओर बढ़ते दिखाई दे रहे हैं । इसके साथ ही काव्य शैली में प्रतिक्रिया के प्रदर्शन या नयेपन की नुमाइश का शौक भी घट रहा है । अब अपनी शाखा की विशिष्टता को विभिन्नता की हद पर ले जाकर दिखाने की प्रवृत्ति का वेग क्रमशः कम तथा रचनाओं को सुव्यवस्थित और अर्थ गर्भित रूप देने की रुचि क्रमशः अधिक होती दिखाई पड़ती है ।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास संस्करण 65, पृ० 626) । वे प्रसाद की प्रशंसा करते कि विरहवेदना के नाना सजीले शब्द पथ निकालने तथा लौकिक और अलौकिक प्रणय के मधुगान के बाद 'लहर'

में ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद की चित्रमयी शैली को विस्तृत अर्थभूमि पर जाने के लिए । इसी प्रकार सुमित्रानंदन पंत 'गुंजन' में सौन्दर्य चयन से आगे बढ़कर व्यापक जीवन को अपने काव्य की अन्तर्वस्तु बनाते हैं । इन दोनों कवियों की अपेक्षा निराला को शुरू से ही वे काव्य क्षेत्र के विस्तार का श्रेय देते हैं । 'तुम' और मैं रहस्यवाद एवं 'जूही की कली' और 'शेफालिका' में उन्मद प्रणय चेष्टाओं के बाद उन्होंने 'जागरण वीणा' भी बजाई, विधवा की करूण मूर्ति खड़ी की और फिर इधर आकर 'इलाहाबाद के पथ पर' एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर के श्रम खीकर दिखाए । वे छायावाद को उनकी तीन प्रमुख कवियों तक ही सीमित कर देने के पक्ष में भी नहीं है । वे रामनरेश त्रिपाठी और मुकुटधर पाण्डेय में भी छायावाद के उत्स की खोज करते हुए सियाराम शरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, ठाकुर गुरूभक्त सिंह, उदयशंकर भट्ट आदि कवियों को विस्तृत अर्थभूमि पर स्वाभाविक स्वच्छंदता का मर्म पथ ग्रहण करने का श्रेय देते हैं ।

शुक्ल जी एक बहुपठित और विश्व साहित्य की गतिविधियों के प्रति अत्यन्त सजग आलोचक माना जा सकता है । लेकिन यूरोप में उपन्यास के रूप में, महाकाव्य की समकक्षता में खड़े होनेवाले साहित्य रूप को लेकर उनकी ऐसी किसी सजगता का कोई साक्ष्य दुर्भाग्यवश हमें नहीं मिलता है । कथा-साहित्य संबंधी उनकी छिटपुट चर्चा या तो 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में प्रकाशित उनकी एक तीन पृष्ठ की 'उपन्यास' शीर्षक टिप्पणी में, जिसे डॉ० नामवर सिंह ने 'चिंतामणि' के तीसरे भाग में संकलित किया है । इसके अतिरिक्त 'शशांक' के उनके द्वारा किए गए अनुवाद की भूमिका से भी ऐतिहासिक उपन्यास के महत्त्व और अवधारणा पर कुछ प्रकाश पड़ता है ।

कविता के प्रति अपनी केन्द्रीय और अविभक्त चिन्ता के बावजूद शुक्ल जी उपन्यास की स्थिति और महत्त्व को लेकर पर्याप्त आश्वस्त दिखाई देते हैं । वे लिखते हैं, 'उपयास लेकर पर्याप्त आश्वस्त दिखाई दे देते हैं । वे लिखते हैं, 'उपन्यास साहित्य का एक प्रधान अंग हैं । मानव प्रकृति पर इसका बहुत प्रभाव पड़ता है । अतः अच्छे उपन्यासों से भाषा की बहुत कुछ पूर्ति और समाज का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है ।' (चिन्तामणि-3, पृ० 102) उपन्यास के महत्त्व पर बात करते हुए शुक्ल जी प्रायः हमेशा ही 'अच्छे' और उत्तमकोटि के उपन्यासों का उल्लेख करते हैं । ऐसा लगता है कि 'अच्छे' और 'उत्तमकोटि' उपन्यासों की उनकी अवधारणा के मूल में प्रेमचन्द के उपन्यास भी किसी न किसी रूप में अवश्य रहे होंगे ।

ऐतिहासिक उपन्यास के लिए 'कल्पना' और 'अनुमान' जैसे शब्दों को आमने-सामने रखकर वे कल्पना की अपेक्षा अनुमान को अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि उनका विचार है कि कल्पना घटना वैचित्र्य वाले कौतूहलवर्द्धक उपन्यासों के अधिक काम की चीज हैं । 'अनुमान' और 'कल्पना' को आमने-सामने रखकर शुक्ल जी कल्पना के महत्त्व को उतना कम नहीं कर रहे हैं जितना वे उपन्यास के यथार्थवादी स्वरूप को उद्घाटित करने पर बल देते हैं । भारतेन्दु युग में जिस यथार्थवादी उपन्यास धारा का सूत्रपात हुआ, वे उसे सोत्साह रेखांकित करते हैं ।

ऐतिहासिक उपन्यास की तैयारी के लिए शुक्ल जी इतिहास के पुरातत्व का गंभीर अध्ययन और सुविस्तृत जानकारी जरूरी समझते हैं । उस युग के रहन-सहन, आचार विचार, कला-संस्कृति और दर्शन आदि की प्रामाणिक जानकारी के अभाव में लेखक हास्यापद भूलें करेगा और ऐतिहासिक, उपन्यास के वास्तविक आशय को ही नष्ट कर देगा ।

हिन्दी में किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों को साहित्यिक कोटि में शामिल करने की अपनी उदारता के बावजूद वे उन्हें बहुत प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देख पाते । अपने युग के आत्मीय और प्रामाणिक चित्रण के बजाय ये उपन्यास 'निम्न कोटि की वासनाएँ प्रकाशित करने वाले' दृश्यों पर अधिक बल देते हैं । उनके 'चपला' की इसी

आधार पर वे खासतौर से भर्त्सना करते हैं । उपन्यास के परवर्ती विकास को रेखांकित करते हुए वे वृंदावनलाल वर्मा के 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' का उल्लेख खूब उत्साहपूर्वक करते हैं ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एकदम दुविधाहीन भाव से स्वीकार करते हैं कि उपन्यास और कहानी के ढाँचे हमने पश्चिम से लिए हैं – 'इसमें कोई संदेह नहीं कि उपन्यास और छोटी कहानी दोनों के ढाँचे हमने पश्चिम से लिए हैं। हैं भी ये ढाँचे बड़े सुन्दर (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 516) लेकिन इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि पश्चिम के वर्गीकरण और सिद्धान्त निरूपण को भी हम ज्यों का ज्यों स्वीकार कर लें, यह बिल्कुल जरूरी नहीं है। हमें अपने यहाँ के रचनात्मक साहित्य के आधार पर स्वतंत्र वर्गीकरण और सिद्धान्त निरूपण की पहल करनी चाहिए। जितना और जो भी कवि, इस क्षेत्र में उनके समय तक हुए थे वे उससे विशेष निराश नहीं दीखते और उसी को आधार बनाकर वर्गीकरण एवं सिद्धांत-निरूपण में प्रवृत्त होते हैं ।

गद्य साहित्य के विवेचन के क्रम में वे तीन उत्थानों की चर्चा करते हैं । पहला उत्थान वे सन् 1868 से 1918 तक मानते हैं । इस काल के प्रमुख उपन्यासकारों में वे देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता आदि का उल्लेख करते हैं । जैसा कि उल्लेख किया गया है कि घटना के वैचित्र्य और कल्पना के अतिरेक के कारण वे देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों को 'साहत्यिक कोटि' में रखने को तैयार नहीं है । 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' में उन्हें रस संचार, भावभूति और चरित्र चित्रण का अभाव खटकता है । फिर भी इनके महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं, पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनन्दन खत्री का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए उतने किसी और गद्यकार ने नहीं' (वही, पृ० 476) किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओं को साहित्यिक कोटि में रखे जाने का उनका तर्क है, 'इनके उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूपरंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा-बहुत चरित्र चित्रण भी अवश्य पाया जाता है ।' (वही, पृ० 477) लेकिन वासनाओं को सहलाने वाले उच्छृंखल वर्णनों और इतिहास के प्रति अराजक रवैयों के लिए वे उनकी भर्त्सना भी करते हैं । पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय के उपन्यासों की एकमात्र विशेषता उनका भाषा-वैचित्र्य है । मनोभावों और मनोविकारों की बेगमती अभिव्यंजना की दृष्टि से वे बाबू ब्रजनंदन सहाय के सौन्दर्योपासक' और 'राधाकांत' नामक उपन्यासों की विशेष सराहना करते हैं ।

हिन्दी गद्य के तृतीय उत्थान की शुरूआत आचार्य शुक्ल सन् 1918 से मानते हैं । 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का प्रथम प्रकाशन सन् 1929 में हुआ । अतः इस काल के विवेचन में इस समय तक के उपन्यासों को ही लिया गया होगा । लेकिन 'गबन', 'चित्रलेखा', 'सुनीता', 'विराटा की पद्मिनी' आदि के उल्लेख से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि बाद के संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण में उन्होंने मोटे तौर पर चौथे दशक के मध्य तक के उपन्यासों को अपने विवेचन में शामिल कर लिया था । लेकिन इनमें से 'गबन' को छोड़कर अन्य किसी उपन्यासों से उनके अंतरंग परिचय का कोई साक्ष्य नहीं मिलता है । 'गोदान' सहित इन उपन्यासों का वे मात्र उल्लेख करके रह जाते हैं । प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में आचार्य शुक्ल भगवती प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार, उग्र, भगवतीचरण वर्मा आदि का उल्लेख करते हैं ।

उपन्यास संबंधी अपने विवेचन में शुक्ल जी उपन्यास के शिल्प की चर्चा के साथ ही उपन्यास में काव्य तत्व तथा उपन्यास और राजनीति जैसे विषयों पर भी टिप्पणी करते चलते हैं। प्रकृति चित्रण के नाम पर अलंकार की प्रवृत्ति से मुक्ति को वे 'यथातथ्यवाद' कहते हैं ।

उपन्यास के साथ शुक्ल जी कहानी पर विचार करते हैं । इस मामले में वे अपनी परवर्ती आलोचकों एवं इतिहास लेखकों से कहीं अधिक सजगता का परिचय देते हैं । हिन्दी कहानी का विकास उन्हें पर्याप्त आश्वस्त करता है और उसी के आधार पर वे उसके लिए स्वतंत्र सिद्धांत स्थिर करने और उसके भेद-उपभेद निरूपित करने का प्रस्ताव रखते हैं । कहानी के वस्तु विन्यास में आए वैचित्र्य और वक्रता को वे विशेष उत्साह एवं सराहना के साथ देखते हैं ।

हिन्दी कहानी का आरंभ वे द्वितीय उत्थान में मानते हैं । सन् 1900 में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' को वे हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं । अन्य प्रारंभिक कहानीकारों में वे मास्टर भगवान दास, रामचन्द्र शुक्ल, गिरिजादत्त वाजपेयी, बंग महिला आदि का उल्लेख करते हैं । द्वितीय उत्थान के अन्य लेखकों में आगे चलकर वे नाथ कौशिक, राजा राधिकारमण सिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का नाम खासतौर से लेते हैं । सन् 1915 में सरस्वती में प्रकाशित 'उसने कहा था' के संबंध में उनकी टिप्पणी है, 'इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरूचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है ।' (वही, पृ० 519)

प्रेमचन्द की कहानियाँ सन् 1916 से ही हिन्दी में आने लगी थीं । लेकिन प्रेमचंद की कहानी कला पर शुक्ल जी की कोई सुविस्तृत टिप्पणी उपलब्ध नहीं है । वे उनकी कुछ कहानियों का उल्लेख करके ही रह जाते हैं । लेकिन कहानी के 'वस्तु समष्टि के स्वरूप की दृष्टि से' जो नौ भेद शुक्ल जी ने किए हैं उनसे कहानी की प्रगति और वैविध्य का संकेत अवश्य मिलता है । 'अतीत के किसी पौराणिक या ऐतिहासिक कालखंड के बीच अत्यंत मार्मिक और रमणीय प्रसंग का अवस्थान करनेवाली' कहानियों के तौर पर वे अयोध्या ने निकलने वाली 'कथामुखी' में प्रकाशित श्री बिन्दु ब्रह्मचारी और पं० बालकरण विनायक की कहानियों का उल्लेख करते हैं जिनसे वृहत्तर भारत की कल्पना को बल मिलता है । ऐसी कहानियों में 'हेरंभ' और 'बाहुमान' का उल्लेख वे विशेष रूप से करते हैं । मानव सभ्यता के क्रमिक विकास और वृहत्तर भारत की परिकल्पना के सन्दर्भ में जिन कहानियों का उल्लेख शुक्ल जी करते हैं, यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है, कि वस्तुत: वे ही आगे चलकर सवेरा-संघर्ष-गर्जन', 'बोल्गा से गंगा' और 'महायात्रा' की कहानियों और गाथाओं के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं ।

4.3 अभ्यास के प्रश्न

1. हिन्दी आलोचना में आचार्य शुक्ल का स्थान निरूपित कीजिए ।
2. 'हिन्दी आलोचना को आचार्य शुक्ल ने दिशा दी', इस कथन की विवेचना कीजिए ।
3. टिप्पणी लिखिए -
   - (क) भक्तिकाल के संबंध में शुक्ल का विचार
   - (ख) रीतिकाल के संबंध में आचार्य शुक्ल का विचार
   - (ग) आधुनिक काल के सम्बन्ध में शुक्ल का विचार
   - (घ) हिन्दी-गद्य के सम्बन्ध में शुक्ल का विचार

आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति

पाठ संरचना

5.0 उद्देश्य
5.1 परिचय
5.2 आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति
5.3 अभ्यास के प्रश्न

4.0 उद्देश्य

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । आचार्य शुक्ल हिन्दी आलोचना के युगपुरुष हैं । हिन्दी की भावी आलोचना पर उनके कार्य दीर्घकालीन प्रभाव पैदा करनेवाले प्रमाणित हुए हैं । इस इकाई का उद्देश्य आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति से छात्रों को परिचित कराना है ।

4.1 परिचय

द्विवेदी युग में समालोचना का मार्ग प्रशस्त हो गया था, किन्तु वह आलोचना बहिरंग बातों तक ही सीमित थी । उसमें स्थायी साहित्य में परिणत होने वाली समालोचना, जिसमें किसी कवि की अंतर्वर्ती का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषता बहुत ही कम दिखाई जाती है या बहुत ही कम दिखाई पड़ती है । समालोचना की यह कमी आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक आलोचना से दूर हुई । आचार्य शुक्ल का ध्यान गुण-दोष कथन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उसकी अंत:वृत्ति की छानबीन की ओर गया । शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना में अपना विशिष्ट व्यक्तित्व स्थापित किया और वे एक ऐसे आलोचक में प्रतिष्ठित हुए जिसमें सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षा का उत्कृष्ट रूप दिखाई पड़ता है ।

शुक्ल ने न केवल भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों को एक विशिष्ट समन्वित रूप प्रदान किया अपितु हिन्दी आलोचना को सर्वथा एक विशिष्ट एवं स्वतंत्र रूप प्रदान किया । आचार्य शुक्ल काव्य की चरितार्थता सिर्फ चमत्कार प्रदर्शन या मनोरंजन में नहीं मानते । वह जीवन में मंगल-विधायक मूल्यों पर आधारित रसास्वाद को ही उसका लक्ष्य मानते हैं । उनके लेखन में सर्वत्र मर्यादा नीति तथा लोक संग्रह का आग्रह स्पष्ट रहता है । उन्होंने रस को आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर परखा है और शब्द शास्त्रीय रूढ़ि को तोड़ने का प्रयास किया है । आलोच्य रचना के प्रसंगों में निहित गूढ़ार्थ को उद्‌घाटित किया है; विशेष रचनाकार के कृतित्व का अन्य रचनाकारों से तुलना कर उसका मूल्यांकन किया है । साहित्य-सृजन के मूल तत्त्वों का विश्लेषण किया है । इसके साथ ही सामाजिक जीवन

के प्रति रचनाकारों के दायित्व को मानते हुए लोक-मंगल के आदर्श को प्रस्तुत किया है और इसी आधार पर गोस्वामी तुलसीदास को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ रचनाकार प्रमाणित किया है ।

हिन्दी साहित्य का उनका इतिहास कई खामियों के रहते हुए भी दूसरा वैकल्पिक आधार उपलब्ध नहीं रहने के कारण आज भी सर्वाधिक वैज्ञानिक और संयत है ।

5.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना पद्धति

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का आगमन हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदी युग के सीमांत पर हुआ था । सच तो यह है कि हिन्दी आलोचना जगत में उनका प्रवेश एक अति महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में लिया जाता है, क्योंकि वास्तविक हिन्दी आलोचना का स्वरूप यहीं से स्थिर होता है । उन्होंने संस्कृत साहित्य शास्त्र और पाश्चात्य हिन्दी आलोचना के लिए सर्वथा नवीन मानदंड स्थापित किया था । इनकी आलोचना की दो मुख्य धाराएँ मानी जाती हैं : साहित्य धारा का क्षेत्र और प्रसिद्ध रचनाओं का क्षेत्र । प्रथम क्षेत्र में उनकी महत्त्वपूर्ण देन है - हिन्दी साहित्य का इतिहास । दूसरे क्षेत्र के अंतर्गत उन्होंने तुलसी, जायसी और सूर आदि की कृतियों पर गंभीर अध्ययन और विश्लेषण कर विचार रखे हैं । चिंतामणि के इनके आलोचनात्मक निबंध मूलत: सैद्धांतिक ही हैं । उन्होंने रस और अलंकार का नए सिरे से विवेचन किया । अभिनव मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य देकर उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला खड़ा किया । वास्तव में शुक्ल जी ने आलोचना और समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया । इतना ही नहीं, द्विवेदी युग के नीतिवाद व्यवहारवाद तथा आदर्शात्मक बुद्धिवाद को उन्होंने काफी ठोस आधार दिया । उन्होंने अपनी साहित्यिक आलोचनाओं में उन्हें अपनाया भी और उन्हें एक दार्शनिक आधार भी दिया । इसी आधार पर बाद में हिन्दी में एक नए युग का श्रीगणेश भी हुआ ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षाओं में आधुनिकता के पूरे पुट विद्यमान हैं । हिन्दी में आधुनिक समीक्षा की परंपरा वास्तव में आचार्य शुक्ल ने ही चलाई । उन्होंने ही समीक्षा के नए बोध का तात्त्विक आधार दिए । उनकी समीक्षा में उनका अपनापन, हास्य-व्यंग्य-विनोद पैनी दृष्टि द्वारा गहराई तक पैठ निर्णय की क्षमता, विवेचना प्रतिपादन की शक्ति सब कुछ है । समीक्षा के माध्यम से जो विचार या सिद्धान्त उन्होंने व्यक्त किए हैं वे पचे-पचाए हुए तथा उनके अपने हैं । वे एक बड़े साहित्यिक विचारक थे । यही कारण है कि किसी वस्तु को बिना विचारे एवं बिना मीमांसा किए वह ग्रहण नहीं कर पाते थे । उड़ती सम्मति देना उनकी समीक्षकीय फितरत नहीं थी । आचार्य शुक्ल में मध्यकालीन संस्कृति के प्रति स्पष्ट रूझान है । यही कारण है कि शुक्ल जी में लोक-मंगल समाज में समता की स्थापना अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक उपकार की भावना है । इसीलिए तो उन्होंने लिखा है - ''सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके । इसी लोक-हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है ।'' (चिंतामणि, पहला भाग, पृ० 226)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी को भारतीय काव्य-शास्त्र के अलंकार संप्रदाय, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि और रस संप्रदाय अधिक प्रिय लगा था । भरत से उन्होंने रस सिद्धान्त के रस-निष्पत्ति को लिया, परंतु संस्कृत के आचार्यों की रस सम्बन्धी व्याख्याएँ उन्हें मान्य नहीं थी । अपनी सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक समीक्षाओं में भावों या मनोविकारों और उनकी चरम परिणति रसों को परम साध्य मानकर वे चले हैं । भावों और रसों की मीमांसा शुक्ल जी की अपनी अनुभूति

और उनका अपना निरीक्षण मिला हुआ है । स्वानुभूति और स्वनिरीक्षण के आधार पर उन्होंने भारतीय यत्र-तत्र विदेशी साहित्याचार्यों की भी टीका करते हुए अपनी नई स्थापनाएँ की ।

आचार्य शुक्ल ने रस-दशा को हृदय की मुक्तावस्था माना है, जिसमें श्रोता, पाठक या दर्शक साहित्य की किसी रचना के श्रवण, पठन और दर्शन में इतने लीन हो जाते हैं कि उन्हें अपने चारों ओर के जगत एवं वातावरण की सुध -बुध ही नहीं रहती । वह कलाकृति की रसात्मकता के प्रभाव से अपने में ही खो जाता है । सो, रसानुभूति के लिए आलम्बन का साधारणीकरण आवश्यक है । तभी शुक्ल जी कहते हैं कि आश्रय के तादात्म्य और आलम्बन का साधारणीकरण रस के लिए जरूरी है । आचार्य शुक्ल रस को सर्वथा अलौकिक नहीं मानते वो तो रस की स्थिति साहित्य से अलग लौकिक जीवन में भी मानते हैं । शुक्ल जी की कसौटी यह है कि जब हम क्रोध या भय को "लोक से सम्बद्ध देखेंगे तब हम रसभूमि की सीमा के भीतर पहुँचे रहेंगे ।" (रस मीमांसा, पृ० 263) तभी तो वह लोकहृदय में लीन होने की दशा को रस-दशा कहते हैं । यह स्थापना उनकी अपनी है, मौलिक और क्रांतिकारी है । वह मानते हैं कि साहित्य को हर तरह की संकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओं से मुक्त रखा जाना चाहिए, क्योंकि लोक-हृदय, लोक-मंगल या लोकहित को दरकिनार करके साहित्यकार आगे नहीं बढ़ सकता । पुराने रसवादियों से शुक्ल जी का यह महत्त्वपूर्ण मतभेद है ।

आचार्य शुक्ल भावों को उनके आधार से अलग करके नहीं देखते । वे साहित्य में उनके आधार के चित्रण को ही सबसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं । वह कहते हैं - "भावों के प्रकृत आधार पर विषय को कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम है ।" (रस मीमांसा, पृ० 109)

रूढ़िवादी शास्त्र से यह उनका दूसरा मतभेद है । वास्तव में आचार्य शुक्ल वस्तुओं से अलग उनके गुणों की कल्पना ही नहीं करते । उन्होंने पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भाववादी साहित्य-शास्त्रियों विचारों से अलग हटकर रस को काव्य की आत्मा तो माना, लेकिन लोक-हृदय में लीन होने को रस-दशा कहा । ज्ञान को वास्तविक जगत की सत्ता, लेकिन लोक-हृदय में लीन होने को रस-दशा कहा । ज्ञान को वास्तविक जगत की सत्ता पर निर्भर बताया, अवैज्ञानिक रहस्यवादी कल्पनाओं से मुँह मोड़ा और काव्य के भाव-योग की परिणति जीवन के कर्मयोग में की । डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि "आलोचना के क्षेत्र में भवभूति के समान धर्मा आचार्य शुक्ल हैं, जैसे काव्य में उनके समान धर्मा निराला है । शुक्ल जी ने साहित्य में वाल्मीकि और भवभूति की परंपरा को फिर जमाया । उन्होंने मंगल का विधान करनेवाले दो भाव ठहराये, करूण और प्रेम ।" (रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० 10) वह काव्य के भावयोग और लौकिक जीवन के कर्मयोग की एकता अपेक्षित मानते हैं ।

साधारणीकरण के संबंध में आचार्य शुक्ल ने व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की चर्चा की है । इस वाद का संबंध वस्तुतः विभिन्न प्रकार के शील-निरूपण से उद्‌भूत विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों से है । ये अनुभूति तीन प्रकार की होती है : (1) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन की, (2) आश्चर्यपूर्ण अवसादन की, (3) कुतूहल मात्र की । शील के चरम उत्कर्ष के दर्शन से आश्चर्यपूर्ण प्रसादन होता है । कुछ ऐसे अलौकिक व्यक्ति मिलते हैं जिनके शील के दर्शन पर इन दोनों अनुभूतियों के अतिरिक्त एक प्रकार का कुतूहल मात्र होता है । ऐसी शील वाले उक्त दोनों कोटियों में से किसी में भी नहीं रखे जा सकते हैं । इनके दर्शन से थोड़ा-थोड़ा प्रसादन, अवसादन दोनों होता है । संकुल चरित्र वाले (कॉम्प्लेक्स) ऐसे ही व्यक्ति होते हैं । साधु पात्र द्वारा खल पात्रों के प्रति तथा योग्य न्याय-व्यवहार से श्रोता, पाठक

और दर्शक को एक प्रकार की भावतुष्टि होती है । यथा राम द्वारा रावण के प्रति व्यवहार से ऐसी स्थिति में भी आचार्य शुक्ल ने एक मध्यम कोटि की रसात्मकता मानी है । परंतु किसी भी प्रकार के चमत्कारवाद में आचार्य शुक्ल निम्न कोटि की रसात्मकता मानते हैं । जाहिर है आचार्य शुक्ल निम्नलिखित स्थितियों में भी रस की वास्तविक अनुभूति मानते हैं – स्मृत और प्रत्यक्षा रूप-विधान, प्रत्यक्ष या इतिहासाद्यृत, स्मृत्याभास कल्पना, प्रत्यभिज्ञानाद्य त स्मृत्याभास कल्पना; शुद्धा अनुमानाश्रित स्मृत्याभास कल्पना: प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन, काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति चित्रण ।

निश्चय ही शुक्ल जी ने सच्चे हृदय और भावुक दृष्टि-पथ में रखकर श्रोता, पाठक या दर्शक अथवा प्रकृति आदि के प्रत्यक्ष दर्शक को सच्चा सहृदय और भावुक मानकर इस प्रकार की स्थापना की है । रस की अनुभूति के आनन्दस्वरूप, ब्रह्मनंद सहोदर आनन्द शुक्ल की रस की स्थापना का तालमेल भट्टनायक की स्थापना से बैठता है । दोनों के निष्कर्ष एक हैं । आचार्य शुक्ल वाच्यार्थ में काव्य मानते हैं, पुराने लोग व्यंग्यार्थ में तो अभीष्ट कथन का सीधा-सादा रूप ही सम्मुख आता है । तभी तो उन्होंने वाच्यार्थ में काव्य सौंदर्य की पूरी प्रक्रिया की विवेचना की है ।

इस तरह आचार्य शुक्ल ने सर्वत्र साहित्य के सरल, सुबोध और स्वाभाविक पक्ष को ग्रहण किया है । काव्य-पक्ष की सरलता सुबोधता और स्वाभाविकता पर उनकी दृष्टि बराबर रही है । जिन रचनाकारों में स्वाभाविक कलाकारिता के स्थान पर उन्हें कारीगरी मिली है । उनकी रचनाओं को चमत्कारवादी ठहराकर उनकी कोटि मध्यम अथवा निम्न मानी है । भाषा और अभिव्यक्ति के प्रसाद गुण पर उनका ध्यान सदैव रहा है । यह आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना के प्रमुख विधायक तत्त्वों में से एक है, क्योंकि वह मानते हैं कि प्रसाद गुण सम्पन्न अभिव्यक्ति द्वारा भी वस्तु भाव की व्यंजना हो सकती है । काव्य या साहित्य मात्र द्वारा सबका हित हो आचार्य शुक्ल भी तुलसी की ही तरह मानते हैं । सबका हित करने के लिए आचार्य शुक्ल काव्य में अनेक गुणों का होना आवश्यक मानते हैं ।

आचार्य शुक्ल के लिए गीति-काव्य की अपेक्षा प्रबंध-कवि का महत्त्व अधिक है । विश्वकवि रवीन्द्र इसके प्रबल पक्षधर थे । वह कहते थे कि ऐसे मुक्तक और गीतिकाव्य मिलते हैं जो प्रबंध काव्य की मान्यता लिए हुए हैं । रवीन्द्र, निराला, पंत आदि ऐसे ही कवि हैं । वास्तव में आचार्य रामचंद्र शुक्ल स्वदेशी-विदेशी : प्राचीन नवीन सबका समन्वय करके चलते रहे हैं । समन्वय करते समय उनकी दृष्टि नीर-क्षीर विवेक पर अवश्य रही है । यही संयम उनकी विशिष्टता है ।

हम देख चुके हैं कि भावों या मनोविकारों पर दृष्टि निक्षेप करते हुए आचार्य शुक्ल अत्यंत मौलिक प्रतीत होते हैं । अभिव्यंजना के संबंध में भी उनकी विवेचना मौलिक है । जाहिर है उन्होंने न तो भारतवर्ष के रूढ़िवाद को स्वीकार किया है और न पश्चिम के व्यक्तिवाद को । उन्होंने बाह्य जगत और मानव-जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य-सिद्धांतों की स्थापना की । वह पाठकों की साहित्यिक रुचि का परिष्कार करने वालों में थे । आचार्य शुक्ल उपन्यासों में पात्रों के प्रचुर चित्रण और उनके चरित्र-विकास पर जोर देते थे । प्रेमचंद के आदर्श सामने रखते हुए उन्होंने जनसाधारण के जीवन पर उपन्यास लिखना आवश्यक बतलाया । शायद इसीलिए शुक्ल जी ने मानव जीवन और भौतिक जगत की वास्तविकता पर बहुत कुछ लिखा । उन्होंने पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों का खंडन किया है जो मनुष्य की नि:स्वार्थ भावना में विश्वास नहीं करते थे और जो सच्चे देशभक्तों एवं क्रांतिकारियो में छिपी हुई स्वार्थ भावना को ढूँढ़ देते थे ।

आचार्य शुक्ल कलावाद में विश्वास नहीं करते थे । तभी तो वह पश्चिम के कलावाद का पुरजोर खंडन करते हैं । काव्य को शक्ति माननेवाले थियोडोर वाट्सडंटन की जहाँ वह प्रशंसा करते हैं, वहीं काव्य को शुद्ध कला मानने पर उसकी निंदा भी करते हैं । ऐसे ही पश्चिमी मनोविश्लेषण के आचार्यों की काम-वासना और स्वप्न संबंधी स्थापनाओं को वह नहीं मानते । अभिव्यंजनावादी क्रोचे के तमाम तर्कजाल का सार तत्त्व वह कला के लिए मानते हैं । वह खीझ कर लिखते हैं - ''काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते । उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालनेवाली वस्तु मानते हैं । 'कला-कला के लिए वाली बात को जीर्ण होकर मरे हुए बहुत दिन हो गए । एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते ।' (चिंतामणि भाग-2, पृ० 201)

ध्यातव्य है कि आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना संबंधी सिद्धान्तों के विधायक तत्त्वों के निरूपण के लिए भारतवर्ष के चार महाकवियों वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसीदास को अपना आदर्श और आधार बनाया । इनके प्रकृति वर्णन को इनकी लोकहृदय में लीन होने की दशा को अपनी कसौटी मानकर वह आगे बढ़ते हैं । प्रेम की अपेक्षा वह करुणा को अधिक व्यापक मानते हैं । वह लिखते हैं - ''हमारे यहाँ के कवियों ने लोक-रक्षा के विधान में करूणा का ही सही भाव रखा है ।'' (रस मीमांसा, पृ० 79) जाहिर है वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास की सच्ची मानवतावादी परंपरा आचार्य शुक्ल की आधारिक वैचारिक प्रतिपत्ति है । आचार्य शुक्ल ने स्थायी भावों की जो नई व्याख्या की उसका कारण वही मानव-जीवन और मानव स्वभाव की विविधता है, उनकी व्याख्या का आधार वही यथार्थ जीवन का प्रेम है । इसी कारण अलंकारवादियों से उनकी कभी नहीं पटी । वह मानते हैं कि अलंकार वर्णन की प्रणालियाँ हैं, वर्ण्य वस्तु नहीं । काव्य में अलंकार को वे प्रधानता नहीं देते । अलंकार की व्याख्या वह यों करते हैं - ''भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिकाधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है ।'' (चिंतामणि खंड-2, पृ० 358) कहा जाता है कि अलंकारों को प्रधानता देने वाले शास्त्र पर और चमत्कारों और उक्ति सौंदर्य के काव्य पर किया गया उनका प्रहार ही नए भारत के सांस्कृतिक आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण अंग प्रमाणित हुआ । तभी तो उन्होंने नए भारत के सांस्कृतिक उत्थान के लिए संतकवियों से लोकवादी तत्त्व लिए, उनसे पहले के संस्कृत कवियों से कारूण्य और सक्रिय प्रतिरोध के भाव लिए । इस प्रकार आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण एक तरह से सामंत विरोधी था । संभवत: इसीलिए वह असहिष्णु भी थे । वह जनता का पक्ष लेकर एक नई संस्कृति के लिए लड़नेवाली आलोचना के पक्षधर थे । हिन्दी के रीतिकालीन कवियों को वह बड़ी हिकारत की दृष्टि से देखते थे । उन्होंने लिखा है- ''हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं के यहाँ राजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे । एक प्रकार के कविराज तो रइसों के मुँह में मकरध्वज का रस झोंकते थे । दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज की पिचकारी देते थे । पीछे से ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे ।'' (चिंतामणि, भाग-2, पृ० 28) शुक्ल जी के इस तिलमिला देनेवाले व्यंग्य में ही उनकी आलोचना के विधायक तत्त्व का आभास मिल जाता है । शुक्ल जी ने कतई आक्रोश में ऐसे कवियों के विषय में लिखा - ''कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है । लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने कविता का गला दबाकर कहीं अपात्रों की आसमान पर चढ़ाने वाली स्तुति कराई हैं, कहीं द्रव्य न देने वालों की निन्दा । ऐसी तुच्छ वृत्तिवाली का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं ।'' (रस मीमांसा, पृ० 53)

आचार्य शुक्ल मानते थे कि जैसे मनुष्य के शरीर के दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी

कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे । काव्य कला की जूही रमणीयता वह इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में देखते थे । लोक के प्रति करुणा से प्रेरित होकर रावण पर चढ़ाई करने वाले राम के कालाग्नि सदृश क्रोध का उल्लेख करते हुए वह ऊपर का कथन कहते हैं ।

ध्वंस और निर्माण के संबंध में वह बतलाते हैं कि "लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनंद-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक-मंगल और लोक-रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है ।" (रस मीमांसा, पृ० 56) स्पष्ट है ध्वंस जब नए निर्माण के लिए आवश्यक होता है तब उसकी भीषणता भी सुंदर होती है । यही कारण है कि शुक्ल जी उन्हीं कवियों को पूर्ण कवित मानते हैं जो पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी उत्साह, क्रोध, करूणामय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं ।" (रस मीमांसा, पृ० 53) स्पष्ट ही साहित्य में असाधारणता की खोज को वह निंद्य मानते हैं । वह साधारण और असाधारण की एकता दिखाते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि साधारण के बीच ही असाधारण की अभिव्यक्ति हो सकती है । परंतु उक्ति चातुरी को ही वह कविता नहीं मानते । इसीलिए प्रत्यक्ष तौर पर वह सामाजिक प्रश्नों की और साहित्यकारों की उदासीनता का घोर विरोध करते हैं । साहित्य में तटस्थता की बात करनेवाले को आचार्य शुक्ल आर्धमृत लोग कहते हैं । साहित्य से राजनीति को बाहर नहीं करते थे, परंतु साहित्य के अपने गुणों की रक्षा करने की बात हमेशा करते थे ।

वास्तव में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जगत के वास्तविक दृश्य, जीवन की वास्तविक दशाएँ, भावों की व्यंजना में वास्तविकता का आधार – आलोचना में वह इसे अपना मूल सूत्र बनाते हैं । संसार के प्रति उनका दृष्टिकोण मूलत: वस्तुवादी है । वह मानते हैं कि वस्तु व्यापार योजना इसी जगत की होती है । कवि द्वारा भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है । इस तरह लोक और साहित्य; सामाजिक जीवन और रस, भौतिक जगत और भाव जगत की यही एकता है ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल का पश्चिमी आलोचकों में आइ० ए० रिचर्ड्स के प्रति एक सहिष्णु भाव था । अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने अनेक जगहों पर आई० ए० रिचर्ड्स का उल्लेखन-उद्धरण किया है । ऐसा लगता है । रिचार्ड्स उनके प्रिय आलोचक थे । यही कारण है कि अपने मत के समर्थन में उन्होंने प्राय: उनका नाम लिया है परंतु यह नि:शंक होकर कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने मौलिक चिंतन और वैज्ञानिक विश्वसनीयता से हिन्दी में आलोचना के नए मानदंड स्थापित किए हैं । चिंतामणि, रसमीमांसा, तुलसी, जायसी और सूर की समीक्षाएँ उनकी आलोचना के विधायक तत्त्वों की सरणि तैयार करती है । इस आधार पर उन्होंने हिन्दी आलोचना के एक समर्थ रूप दिया और उसे शिखर पर पहुँचाया ।

भारतीय साहित्य शास्त्रीय मापदंडों को हृदयंगम कर पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों के उन अंशों को अपनी आलोचना पद्धति में समन्वित करने प्रयास किया जो भारतीयता के मेल में थी । आचार्य शुक्ल ने अपने अगाद्य और मौलिक चिंतन से हिन्दी आलोचना के सैद्धांतिक स्वरूप को पुष्ट करते हुए उसे व्यावहारिक आलोचना के रूप में ढाला । इतना ही नहीं आलोचना की कसौटी पर निर्णयवादी आलोचना का आधार तैयार किया । लोक-मंगल और लोक-संग्रह की भावना के आधार पर हिन्दी आलोचना को सर्वथा नवीन क्षितिज प्रदान किया । हिन्दी की भावी आलोचना पर दीर्घकालीन प्रभाव डाला । इस कारण हिन्दी आलोचना को एक सर्वथा विशिष्ट एवं स्वतंत्र रूप से विकसित होने का मार्ग दिया । संभवत: यही देखकर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने ठीक ही लिखा है कि "हिन्दी

समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्ल जी ने युग-प्रवर्त्तक का कार्य किया है । उनका यह कार्य हिन्दी के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा ।''

सूत्र रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि में काव्य की चरितार्थता केवल चमत्कार-प्रदर्शन या मनोरंजन से नहीं होती, अपितु जीवन में मंगल-विधायक मूल्यों पर आधारित रसास्वाद ही उसका मूल लक्ष्य होना चाहिए । शुक्ल जी के लेखन में सर्वत्र मर्यादा, नीति तथा लोक संग्रह का आग्रह स्पष्ट रहता है । रस-सिद्धांत त्रिवेणी और चिंतामणि शुक्ल जी के साहित्यिक मानदंडों को स्थापित करने वाले ग्रंथ हैं । उन्होंने रस और अलंकार की युगानुकूल व्याख्या की है । एक प्रकार से रस की पुनः स्थापना-सी की है, परंतु रचनाओं की व्याख्यात्मक आलोचना करते हुए उन्होंने सभी पहलुओं से काव्य सौंदर्य का परिशीलन और मूल्यांकन करने का प्रयास किया है । यह उनकी विशिष्टता है । यही कारण है कि आलोचना के बहुमुखी पहलुओं का संधान उन्होंने किया है । रस के आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर परखा और शब्दशास्त्रीय रूढ़ि को तोड़ने का सफल प्रयास किया । आलोच्य-रचना के प्रसंगों में निहित गूढ़ अर्थों को उद्‌घाटित किया । साहित्य सृजन के मूल तत्त्वों का विवेचन और विश्लेषण किया । सामाजिक जीवन के प्रति रचनाकारों के दायित्व को मानते हुए लोकमंगल का आदर्श प्रस्तुत किया । गोस्वामी तुलसीदास को हिन्दी का श्रेष्ठतम कवि इसी आधार पर सिद्ध किया ।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल कविता में समाज और जीवन की अभिव्यक्ति को महत्त्व देते है । वे कविता का विश्लेषण और मूल्यांकन करते समय कहीं भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति नहीं खोजते, बल्कि रहस्यवाद और आध्यात्मिकता की उपस्थिति पर आपत्ति करते हैं । कविता के स्वरूप और प्रयोजन विचार और भाव के स्वरूप, जीवनानुभूति और काव्यानुभूति के संबंध तथा साधारणीकरण आदि के बारे में आचार्य शुक्ल की धारणाएँ उनकी वस्तुवादी दृष्टि का प्रमाण देती हैं ।

वास्तव में श्रेष्ठ समीक्षक आलोचक में दो योग्यताएँ तो अवश्य होनी चाहिए - एक आलोच्य कृति के कलात्मक सौष्ठव अथवा उसकी प्रौढ़ता के परीक्षण की योग्यता और दूसरे कृति में निबंद्ध अनुभूति के युगसापेक्ष मूल्य या महत्त्व को परखने की शक्ति । प्राचीन साहित्य के समीक्षक में यह देखने की क्षमता भी होनी चाहिए कि आलोच्य कृति का कितना और कौन-सा अंश समकालीन पाठकों के रसात्मक सार्थकता सजाए रखता है । समीक्षक अथवा आलोचक की यह कसौटी निश्चय ही अत्युच्च और आदर्श है । कहना आसान है कि अभी तक हिन्दी को ऐसा समीक्षक संभवतः नसीब नहीं हुआ है । निश्चय ही हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समीक्षक व्यक्तित्व की सबसे बड़ी कमी सांस्कृतिक है कि पूरी तरह आधुनिक नहीं है । यह एक ऐसी कमी है जिसके कारण आचार्य शुक्ल एक महत्त्वपूर्ण के साथ-साथ आदर्श आलोचक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य संभवतः नहीं कर पाते । वह समसामयिक साहित्य वृहद और सफल मूल्यांकन आत्मीयता से नहीं कर पाते । अपने युग में जीवन की कौन-सी नई मांगें और संभावनाएँ हैं और जिनका प्रकाशन समकालीन साहित्य में हो भी रहा है । ऐसा प्रतीत होता है इस अर्थ में वह यह आग्रह लेकर चलते हैं कि वर्तमान में जितना जो कुछ हो रहा है वह श्रेण्य नहीं है । इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य शुक्ल में एक श्रेष्ठ आलोचक की शक्ति और क्षमता पूर्णतया विकसित रूप में अवस्थित है । रचना के कलात्मक सौष्ठव अथवा अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता को आँकने की शक्ति और ताकत उनमें प्रचुर है । इतना ही नहीं, उनमें बौद्धिक विश्लेषण की भी अपूर्व क्षमता है । इस तथ्य का प्रमाण है कि उनमें काव्य की अनुभूत विशेषताओं को बुद्धि की, अर्थात् सामान्य धारणात्मक प्रतीकों को भाषा प्रकट करने की भरपूर योग्यता विद्यमान हैं, बल्कि यह

कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि आचार्य शुक्ल में साहित्यिक अभिव्यक्ति अथवा अनुभूति की उन विशेषताओं को जो उसे प्रौढ़ एवं रसपूर्ण बनाती है, विश्लेषित करने एवं नाम देने की अद्‌भुत क्षमता है । उनकी इस क्षमता को वे पाठक ही आँक सकते हैं जो स्वयं प्रतिभाशाली होने के साथ-साथ उच्चतम साहित्य के ईमानदार भोक्ता हों ।

आचार्य शुक्ल के समीक्षक रूप का मनन करने पर यह स्पष्ट लगता है कि अपने इन सूक्ष्म मंतव्यों के कारण उनमें इतिहास-तत्त्व की अपेक्षा समीक्षा-तत्त्व ही प्रधान है; तभी तो वह साहित्य में पहले कलात्मक सौष्ठव अथवा अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता की खोज करते हैं, फिर कुछ और की । आचार्य शुक्ल की समीक्षा प्रणाली की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह अपनी समीक्षा में सिर्फ उन्हीं पैमानों का उपयोग करते हैं जिनकी सच्चाई का अपने विस्तृत अध्ययन के क्षणों में उन्होंने खुद साक्षात्कार किया हो । वह सिर्फ उन्हीं मानदंडों का उपयोग करते हैं जो उन्हें अध्ययन ठप अनुभूति के द्वारा प्राप्त हुए हैं । वे सुने-सुनाए प्रख्यापित एवं प्रचारित वादों पैमानों के उपयोग नहीं करते । ऐसे मानदंडों अथवा उनके संकेत करने वाले वादों से प्रभावित भी नहीं होते । एक और बात ध्यातव्य है कि अपने स्थानुभूत मानदंडों का उपयोग वे बड़े आग्रह, आत्मविश्वास एवं शक्ति के साथ करते हैं । उनकी समीक्षा सचेत पैमानों पर और वे पैमाने ठोस, रसानुभूति पर आधारित होते हैं । संभवत: इसी कारण उनकी समीक्षा इतनी गुरु-गंभीर एवं शक्तिपूर्ण होती है । जाहिर है उनके समीक्षा-सिद्धांत और समीक्षा-क्रिया में परिपूर्ण सामंजस्य रहता है । उस्तु आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में समीक्षा की आधुनिक परंपरा का निर्माण किया है, समीक्षा की पदावली अर्थात् पारिभाषिक शब्दावली तक का निर्माण किया है ।

सुतराँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की निंदा-स्तुतिपरक तथा गंभीर तात्त्विक चिंतन से रहित रूढ़िवादी काव्य-शास्त्रीय शब्दावली से बोझिल और उथली समीक्षा-प्रणाली से परे हटकर हिन्दी आलोचना को पहली बार गहन और मौलिक तात्त्विक विवेचन से युक्त तथा रसग्राहिता से समन्वित व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है । यह तथ्य आज सर्वमान्य बन चुका है । उनके परवर्ती हिन्दी आलोचकों के लिए उनका कृतित्व आलोक-स्तंभ एवं प्रेरणा-स्रोत दोनों का कार्य कर रही है । संभवत: इसीलिए डॉ० रामविलास शर्मा जैसे समीक्षक ने लिखा है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचना साहित्य का अध्ययन हिन्दी साहित्य को अवांछित प्रभावों से मुक्त करने के लिए अब भी एक महान साधन है । उनकी आलोचना गंभीर है, क्योंकि उसका आधार वस्तुवादी दृष्टिकोण है । वह संसार के इने-गिने आलोचकों में है जिन्होंने मुक्तकंठ से इस भौतिक जगत मनुष्य के व्यवहार जगत को सत्य के रूप में स्वीकार किया । उनकी गंभीरता का दूसरा कारण संभवत: उनकी तर्क और चिंतन-पद्धति है । विरोधी लगनेवाली वस्तुओं का सामंजस्य पहचानना, उन्हें गतिशील और विकासमान देखना, संसार के विभिन्न भौतिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर संबंध स्थापित करके उनका अध्ययन करना इस पद्धति की विशेषताएँ हैं । तभी आचार्य शुक्ल ही लिख सकते थे कि "यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है" - (श्रद्धा भक्ति: चिंतामणि) यहाँ एक में प्रवृत्ति का क्रम है तो दूसरे में निवृत्ति का । साहित्य के लिए दोनों का संयोग आवश्यक है । जाहिर है आचार्य शुक्ल में जीवन और साहित्य के सत्य की झलक रहती है और यही उनके अनूठेपन का कारण भी है । निस्संदेह आचार्य शुक्ल एक सहृदय आलोचक थे । तर्कशास्त्री से अधिक संभवत: वह अधिक भावुक साहित्य-प्रेमी थे । उनकी तर्क-योजना में कमी हो सकती है, परंतु सहृदयता में नहीं । उनकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे अत्यंत सारगर्भित वाक्य रचने की क्षमता रखते थे जिनमें जीवन के अनुभवों और सुदीर्घ चिंतन का फल संचित होता था । वस्तुत: एक आलोचक के रूप में आचार्य शुक्ल निभ्रांत रूप से हिन्दी साहित्य के इतिहास-पुरुष थे ।

5.3 अभ्यास के प्रश्न

1. आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति का विवेचन कीजिए ।
2. 'आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं में आधुनिकता के पूरे पुट विद्यमान हैं ।' इस कथन की समीक्षा कीजिए ।
3. टिप्पणी लिखिए –
   (क) साधारणीकरण और आचार्य शुक्ल
   (ख) रस सिद्धान्त और आचार्य शुक्ल
   (ग) चिन्तामणि और आचार्य शुक्ल

आलोचना : शास्त्रीय विवेचन

पाठ संरचना

6.0 उद्देश्य
6.1 परिचय
6.2 आलोचना की उपयोगिता, परिभाषा, उद्देश्य
6.3 साहित्य और आलोचना
6.4 आलोचना की पद्धतियाँ
6.5 पाश्चात्य और भारतीय आलोचना की तुलना
6.6 आधुनिक हिन्दी आलोचना
6.7 मुख्य तत्त्व
6.8 अभ्यास के प्रश्न

6.0 उद्देश्य

साहित्य के विशिष्ट गुणों या अंगों की सीमित आलोचना से हटकर आज विश्व-साहित्य को आधार मानकर उसकी आलोचना करने लगे हैं । आज हम सम्पूर्ण विश्व की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक गतिविधियों के प्रकाश में अपने साहित्य का मूल्यांकन करते हैं । इस इकाई का उद्देश्य आलोचना के शास्त्रीय पक्ष से छात्रों को परिचित कराना है ।

6.1 परिचय

हिन्दी साहित्य में आलोचना पहले-पहल केवल काव्यगत गुण-दोषों तक ही सीमित रही है । भक्तिकाल में उसका रूप टीकाओं के रूप में मिलता है । रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों के रूप में रस, अलंकार, द्वन्द्व, नायिका-नायक के विभिन्न भेदोपभेदों का वर्गीकरण करने में ही समालोचना का रूप समाप्त हो गया । अब तो हम यह देखते हैं कि इस संघर्षशील युग में हमारे साहत्यिकार युग की भावनाओं का प्रकाशन निष्पक्ष रूप से अंकित करने में सफल हुए हैं या नहीं । आज की आलोचना का मेरूदण्ड इसी को माना जा सकता है । अपने इस विस्तृत रूप तक आने में हिन्दी आलोचना ने मुक्त हृदय से पश्चिमी आलोचना के सहयोग को स्वीकार किया है.। इसी कारण आज हिन्दी की आलोचना के नवीन रूप को पाश्चात्य-आलोचना का प्रतिरूप-सा माना जाता है ।

6.2 आलोचना की उपयोगिता, परिभाषा, उद्देश्य

आलोचना की उपयोगिता - प्रत्येक वस्तु के परखने और उसके गुण-दोष निश्चित करने की प्रवृत्ति हरेक

व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है । ज्ञात और अज्ञात रूप से प्रत्येक मनुष्य किसी वस्तु के लिए 'अच्छी है, या बुरी है, या इस श्रेणी की है''-इस प्रकार का कोई न कोई मत निश्चित करता है । प्रकारान्तर से आलोचना भी स्थूल रूप में, यही काम करती है । आलोचना विभिन्न रूपों की विशिष्ट व्याख्या कर उनके सत्य स्वरूप का उद्‌घाटन करती है । उसे कला के सम्पर्क से उत्पन्न रसानुभूति की भौतिक व्याख्या माना जा सकता है । आलोचक विश्लेषण करता है वह हमारे मस्तिष्क में उन तत्त्वों की विश्लिष्ट चेतना उत्पन्न करता है, जो किसी साहित्यिक या कलाकृति अथवा उसके किसी अंश को रसमय या नीरस बनाते हैं । काव्य की विशेषताओं को सामान्य नाम देने का अर्थात् सामान्य रूप में प्रकट करने का नाम ही 'साहित्यिक आलोचना' है । इसकी सहायता से पाठक सत्-असत् साहित्य के विधायक तत्त्वों का सचेत् ज्ञान प्राप्त करता है । इसके द्वारा साहित्य का रस-ग्रहण एक अन्य व्यापार न रहकर चेतनामूलक व्यापार बन जाता है । आलोचना शास्त्र की जानकारी रखनेवाला पाठक अधिक सचेत भाव से साहित्य का रस लेता है । इससे हमारी रस-संवेदना का शिक्षण और परिष्कार होता है । इसकी सहायता से हम कला-गति का सही मूल्यांकन और उसका भाव समझने में अधिक समर्थ बन जाते हैं ।

परिभाषा

आलोचना की परिभाषा करते हुए डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है - ''साहित्य-क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों की विवेचना करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना 'आलोचना' कहलाता है । .....यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा ।'' आलोचना के कार्य और प्रभाव को स्पष्ट करते हुए बाबू गुलाबराय कहते हैं कि -''आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना, उनकी रूचि का परिमार्जन करना एवं साहित्य की गतिविधि निर्धारित करने में योगदान देना है ।''

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कार्लायल के अनुसार - ''आलोचना कृति के प्रति उद्‌भूत आलोचकों की मानसिक प्रतिक्रिया का प्रतिफलन है ।'' तथा मैथ्यू आर्नाल्ड का कहना है कि - ''आलोचक को तटस्थ भाव से वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का अनुभव और प्रचार करना चाहिए । आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है - तटस्थता ।'' इन उक्तियों से आलोचना का स्वरूप और कुछ सामान्य गुण तथा विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं ।

उद्देश्य

संस्कृत आचार्यों ने कवि की कृति को 'नियतिकृति नियमरहिताम्'' मानकर भी उसे 'व्यवहार विदे' और 'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे'' भी माना है । कवि की कृति के रहस्य से पाठक को परिचित कराना ही सच्चे आलोचक का कार्य और कर्त्तव्य है । यदि कोई मनीषी कलाकार जीवन की व्याख्या करता है तो एक निष्पक्ष और विद्वान आलोचक हमें वह व्याख्या समझने में सहायता देता है । इसीलिए विद्वानों ने आलोचना के दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किए हैं (1) सत्साहित्य के निर्माण को प्रोत्साहन तथा (2) असत् साहित्य का निराकरण । परन्तु यदि दोष-छिद्रान्वेषण के लिए ही आलोचना की जाती है तो उसका स्तर अत्यन्त छिछला और सत्साहित्य के लिए घातक हो उठता है । यदि आलोचना के मूल में परस्पर राग-द्वेष की भावना कार्य कर रही हो, तो वह कमी भी हमारा मार्गदर्शन नहीं बन सकती । सम्भवत: अपने समय की इसी राग-द्वेषपूर्ण आलोचना को देखकर गौतम बुद्ध को अपने शिष्यों को यह चेतावनी देनी पड़ी थी कि - ''वादं जातं नो उपेत्ति' - अर्थात् 'जहाँ वाद हो रहा हो-आलोचना हो रही हो, वहाँ कभी न जाना चाहिए । इसलिए आलोचक के लिए विद्वान, आलोच्य विषय का पूर्ण ज्ञाता, उदार हृदय और निष्पक्ष

होना अत्यन्त आवश्यक है । साहित्यकार चाहे जितना बुरा मानें, आलोचना होगी अवश्य; उसे रोका नहीं जा सकता । यदि आलोचक किसी साहित्यकार की या उसकी कृतियों की प्रशंसा करता है तो आलोचक अच्छे हैं; और यदि उसकी निर्बलता, कलाहीनता, विकृतियों आदि की कलई खोलकर रख देता है तो आलोचक बुरे और अनावश्यक बन जाते हैं । रचनात्मक साहित्य के सर्जकों का यह दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं माना जा सकता ।

6.3 साहित्य और आलोचना

'साहित्य' और 'आलोचना' में अत्यन्त निकट का संबंध है । अत्यन्त प्राचीनकाल से हम इन दोनों के साथ-साथ चलना पाते हैं । इन दोनों के सह-अस्तित्व की यह प्रक्रिया साहित्य के सर्वांगीण विकास में सहायक रही है । जहाँ साहित्य है, वहाँ किसी-न-किसी रूप में आलोचना भी है । इसीलिए गौतम बुद्ध के आदेशानुसार उसके प्रति उपेक्षा तो नहीं दिखाई जा सकती । आवश्यकता केवल इस बात की है कि आलोचक अपने विवेक को सदैव जाग्रत रखे । वह पाठक और लेखक के मध्य मध्यस्थ का कार्य करता रहे । ''उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व है । एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याता और निर्णायक होता है तो दूसरी ओर वह अपने पाठक का विश्वासपात्र और प्रतिनिधि समझा जाता है । कवि की भाँति वह द्रष्टा और स्रष्टा - दोनों ही होता है । लोक-व्यवहार तथा शास्त्र का ज्ञान, प्रतिभा और अभ्यास आदि साधन - जैसे कवि के लिए अपेक्षित है, उसी प्रकार समालोचक के लिए भी ।' इस प्रकार आलोचक का महत्त्व कृति, कवि या लेखक के महत्त्व और कृति से किसी भी दशा में नहीं होता । दोनों का उत्तरदायित्व समान है । इसी विशेषता का लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए आलोचना को साहित्य का अंग माना है । इस प्रकार से आलोचना को साहित्य का मार्गदर्शक माना जा सकता है । वह साहित्य के नियमन में प्रमुख भूमिका अदा करती है ।

पाश्चात्य आलोचना

हिन्दी में आलोचना शब्द आजकल 'साहित्यिक समालोचना' के लिए प्रयुक्त होता है जो अंग्रेजी शब्द 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस' से मानी जाती है, जिसका अभिप्राय 'विवेचन करना या निर्णय देना है । 'योरोप में इस शब्द की परिधि में किसी कृति-विशेष के समुचित अध्ययन के साथ ही उसके सृजन की प्रक्रिया, उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व तथा उसके युग और तत्कालीन प्रवृत्तियों का अध्ययन आदि सभी बातों का समावेश माना जाता है । पश्चिमी आलोचना के आदि गुरु प्लेटो साहित्य में ही नहीं, वरन् साहित्यकार में भी श्रेष्ठ आचरण तथा सत्यानुसरण का समावेश चाहते थे । उनके लिए वही साहित्य श्रेष्ठ तथा पठनीय था जो सत्य सन्देश द्वारा श्रेष्ठाचरण में सहयोग दे सके । इसलिए वह साहित्यकार में भी इन गुणों का होना अनिवार्य मानते थे । यह आलोचना का वह नैतिकतावादी मानदण्ड था जिसका आधार 'नैतिकतावादी आदर्श' था । परन्तु इसकी दृष्टि सीमित थी । अरस्तू ने इस दृष्टिकोण का परिष्कार और परिवर्द्धन कर साहित्य के 'सम्भावित सत्य' की स्थापना की । उनके अनुसार साहित्यकार जिस सत्य की अभिव्यक्ति करता है, उसमें हमें विज्ञान की सत्यता के दर्शन नहीं होंगे । उसकी सत्य की अभिव्यक्ति दूसरे प्रकार की होगी । उसमें वैज्ञानिक सत्य के दर्शन न होकर, 'सम्भावित सत्य' के दर्शन होंगे । यह यथार्थवादी दृष्टिकोण था । इस प्रकार योरोपीय समीक्षा के अनुसार रचना के विषय, सौन्दर्य-सिद्धांत, रचनाकार की जीवनी आदि की दृष्टि से रचना के गुण-दोषों और रचनाकार की अन्तरवृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन किया जाता रहा है ।

भारतीय आलोचना

भारतीय आलोचना या समीक्षा, अत्यन्त प्राचीन होती हुई भी पश्चिमी आलोचना से भिन्न और विलक्षण है ।

संस्कृत के 'समीक्षा' शब्द का अभिप्राय 'अन्तर्भाष्य' तथा 'आवान्तरार्थ विच्छेद' माना जाता है । इसी कारण समीक्षकों का ध्यान प्रधानत: आलोच्य ग्रंथों तक ही सीमित रहता आया है । उन्होंने रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन, उसकी कला-प्रेरण, वातावरण और परिस्थितियों की ओर ध्यान न दे, आलोच्य कृति को ही अपना मूल विवेच्य माना है । संस्कृत-साहित्य में आलोच्य ग्रंथ का उचित ज्ञान प्राप्त हो सके । इसमें काव्य-तत्त्व के दार्शनिक अध्ययन तथा शास्त्रीय व्याख्यादि, अथवा अधिक से अधिक रचना-शैलियों की परीक्षा पर ही विशेष ध्यान दिया गया है । संस्कृत के काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने साहित्य के मूलाधार तत्त्वों को ही महत्त्व दे उन्हीं को आधार बना विभिन्न रचनाओं का मूल्यांकन किया है । परन्तु पाश्चात्य आलोचना में क्रमश: साहित्यिक कृतियों के व्यावहारिक पक्ष को भी पूरी महत्ता प्रदान की गई है । अतएव भारतीय समीक्षा का क्षेत्र जहाँ अधिकतर काव्य शास्त्र तक ही सीमित रहा है, वहाँ पश्चिमी आलोचना तथा उससे प्रभावित हिन्दी आलोचना का सम्पर्क आधुनिक मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के साथ भी स्थापित हो गया है, जिससे उसने एक स्वतंत्र रूप धारण कर लिया है ।

6.4 आलोचना की पद्धतियाँ

संस्कृत साहित्य में आलोचना की छह पद्धतियाँ प्रचलित थीं जिनका थोड़ा-बहुत अनुकरण हिन्दी के वर्तमान साहित्यकारों ने भी किया है । ये छह पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं - (1) आचार्य पद्धति, (2) टीका पद्धति, (3) शास्त्रार्थ पद्धति, (4) सूक्ति पद्धति, (5) खण्डन पद्धति और (6) लोचन पद्धति । इन पद्धतियों का दृष्टिकोण केवल एक पुस्तक अथवा साहित्य के किसी एक विशेष गुण की आलोचना करना ही रहा है । ये विस्तृत अथवा सार्वदेशिक और सार्वकालिक साहित्य को अपना आधार बनाने में असफल ही रही है । परन्तु इनकी इस सीमित तथा एकांगी आलोचना को विस्तृत क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता था और किया जाता रहा है । इन पद्धतियों की संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित हैं -

(1) आचार्य पद्धति - संस्कृति के आचार्य अपने लक्षण-ग्रंथों में व्याख्यादि के लक्षणों का निरूपण करते थे । जिन लक्ष्य-ग्रंथों को वे उत्कृष्ट समझते थे - उन्हें रस, अलंकार आदि के सुन्दर उदाहरणों के रूप में और जिन्हें अधम काव्य या दोषों के रूप में उद्धृत करके उनके गुण-दोषों की यथोचित समीक्षा करते थे । 'काव्य-प्रकाश', 'काव्य-दर्पण' आदि इसी प्रकार के ग्रंथ हैं । मध्ययुगीन हिन्दी आचार्यों ने अपने रीति-ग्रंथों में अपनी ही रचनाओं के उदाहरण दिए और दोषों की अवहेलना की । आधुनिक काल में भी इस पद्धति पर अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं; जैसे-गुलाबराय का 'नवरस', कन्हैयालाल पोद्दार का काव्य कल्पद्रुम, शुक्ल जी का 'रस मीमांसा', रामदहिन मिश्र का 'काव्य-दर्पण', हरिऔध का 'रस-कलश' आदि ।

(2) टीका पद्धति - इसमें सिद्धांत की अपेक्षा आलोच्य ग्रंथ को अधिक महत्त्व दिया गया था । टीकाकार टीका लिखते समय कवि के आशय को तो स्पष्ट करके बताते ही थे, साथ ही उसकी उक्तियों की विशेषताओं तथा रस-ध्वनि-अलंकार आदि का भी उल्लेख करते थे । इस पद्धति ने रचनागत अर्थ पर ही अधिक ध्यान दिया । संस्कृत में मल्लिनाथ की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं । हिन्दी पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी-बोधिनी' आदि इसी कोटि की कृतियाँ हैं । इस पद्धति पर हिन्दी साहित्य में तीन प्रकार की रचनाएँ हुईं - (1) अर्थ-परिचय, (2) रचना परिचय और (3) रचनाकार का परिचय ।

(3) शास्त्रार्थ पद्धति - पूर्ववर्ती समीक्षकों से असहमत होने पर परवर्ती आलोचकों ने तर्कपूर्ण उक्तियों

द्वारा दूसरों के मत का खण्डन और अपने मत का मण्डन करने के लिए शास्त्रार्थ पद्धति चलाई गई । इन लोगों ने विपक्ष के दोषों और स्वपक्ष के गुणों को ही देखने की चेष्टा की । 'रस गंगाधर' तथा 'काव्य विवेक' इसके सुंदर उदाहरण हैं । हिन्दी-साहित्य में 'बिहारी और देव', 'देव और बिहारी' इसी पद्धति की रचनाएँ हैं । लेख रूप में भी शास्त्रार्थ पद्धति पर आलोचनाएँ प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं । संस्कृत साहित्य में इस पद्धति पर लिखित आलोचना का विषय 'समीक्षा-सिद्धान्त' था । किन्तु हिन्दी में अधिकतर लक्ष्य-ग्रंथों को ही लेकर विवाद उठा है ।

(4) सूक्ति पद्धति - सुन्दर लगने वाली वस्तु की प्रशंसा करना मनुष्य का स्वभाव है । संस्कृत काव्य और कवियों के विषय में प्रशंसात्मक उक्तियाँ कही गई हैं; यथा -

''उपमा कालिदासस्य भारवेर्थगौरवम् ।''

नैषद्ये पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणा ।।''

संस्कृत की यह परम्परा हिन्दी में अविराम बनी रही; यथा - ''सूर-सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास'' आदि । आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्राय: सम्पादकों और भूमिका लेखकों ने ही ऐसी आलोचनाएँ लिखी हैं ।

(5) खण्डन पद्धति - मनुष्य के जो लोचन केवल गुण ग्राही होते हैं, वे केवल दोष-ग्राही भी हो सकते हैं, इसी सहज बुद्धि ने पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'चित्र मीमांसा-खण्डन पद्धति' आदि को जन्म दिया । यह पूर्णरूपेण दोष-प्रदर्शन प्रणाली है । हिन्दी में ऐसे आलोचकों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को माना जा सकता है ।

(6) लोचन पद्धति - आलोचना का उत्कृष्टतम रूप इसी पद्धति में प्रकट होता है । इसमें आलोचक आलोच्य विषय के अर्थ को पूर्णतया हृदयंगम कराके रचना की अन्तर्दृष्टि की विशद समीक्षा करता है । संस्कृत में आनन्दवर्द्धन का 'ध्वन्यालोक' और अभिनव गुप्त द्वारा की गई 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' नामक टीका ऐसी ही रचनाएँ हैं । आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' की समीक्षा शैली इसी लोचन पद्धति और पश्चिमी समालोचना प्रणाली का मिश्रित रूप है । प्राचीन भारतीय आलोचकों ने 'आलोच्य रचना-सुन्दर या असुन्दर क्यों हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए रचनाकार की जीवनी, विषय का इतिहास तथा तत्कालीन समाज आदि को दृष्टि में रखकर आलोचना नहीं की । ये विशेषताएँ योरोपीय समीक्षा-शैली ने ही हिन्दी को प्रदान की ।

6.5 पाश्चात्य और भारतीय आलोचना की तुलना

संस्कृत की उपर्युक्त विभिन्न समीक्षा पद्धतियों के सीमित और एकांगी दृष्टिकोण के कारण उनका उपयोग विस्तृत क्षेत्र में नहीं हो सका, फिर भी तत्त्वों की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी आलोचना पद्धति और प्राचीन संस्कृत समीक्षा पद्धति में विशेष अंतर नहीं है । योरोप में आलोचना के तीन तत्त्व माने गए हैं - वस्तु, रीति और आदर्शीकरण । भारतीय आलोचना के भी तीन तत्त्व हैं - शब्द, अर्थ और रस । तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इनमें कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता । आदर्शीकरण रस का एक अंग है । योरोपीय 'कल्पना' का स्थान हमारी प्रतिभा ले सकती है । वहाँ का 'कला जीवन के लिए' वाला सिद्धांत हमारे 'कला का प्राण है पुरुषार्थ' वाले सिद्धान्त का ही प्रतिरूप है । प्राचीन भारतीय आलोचकों ने रस, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि या चमत्कार को ही कवित्व माना और उसी के अनुसार काव्य की अच्छाई और बुराई का विवेचन किया । यूरोपीय आलोचकों ने काव्यगत सुन्दरता या असुन्दरता की कारणभूत परिस्थितियों पर भी उदारतापूर्वक विचार किया । कलाकृतियों की समीक्षा करते समय वे रसादि तक ही सीमित नहीं रहे । उन्होंने यह भी विवेचन किया कि कलाकार ने अपनी कृति में मानव और प्रकृति के विविध रूपों

की कितनी और कैसी व्याख्या की है, हृदय और मस्तिष्क की विविध प्रवृत्तियों का कितना सूक्ष्म और सुन्दर विश्लेषण किया है, जीवन और जगत को कितनी दृष्टियों से देखने का प्रयास किया है ।

6.6 आधुनिक हिन्दी आलोचना

आज के हिन्दी आलोचना कां दृष्टिकोण साहित्य के विशिष्ट गुणों या अंगों की सीमित आलोचना से हट, विश्व-साहित्य को आधार मान, आलोचनां करने का आधार बन चुका है । आज हिन्दी साहित्य में पश्चिम और पूर्व दोनों विचारधाराएँ आकर मिल गई हैं, फलस्वरूप साहित्य समीक्षा में कई नवीन दृष्टिकोणों का उदय हुआ है । इन सम्पूर्ण दृष्टिकोणों को हम चार मोटे विभागों में विभाजित कर सकते हैं (1) रस, ध्वनि, अलंकार आदि पुनरुत्थानवादी सैद्धान्तिक समीक्षा; (2) आत्म प्रधान या प्रभाववादी समीक्षा; (3) व्याख्यात्मक समीक्षा; और (4) निर्णयात्मक समीक्षा ।

1. सैद्धान्तिक समीक्षा - इसमें साहित्य के विभिन्न रूपों के विवेचन द्वारा साहित्यिक सिद्धांतों की स्थापना होती है । जब लोक-रुचि सूत्रबद्ध हो जाती है और कुछ प्रवर्त्तक कवियों की अमर रचनाओं का विश्लेषण कर उनके नमूनों के आधार पर सिद्धान्त और नियम निर्धारित किए जाते हैं, तब सैद्धान्तिक आलोचना का जन्म होता है । इसका विषय है - साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण । साहित्य क्या है ? कविता क्या है ? उसका लक्ष्य क्या है ? यह पद्ध इसका स्वरूप निर्धारित करती है । यह समालोचना का शास्त्रीय पक्ष है । प्लेटो और अरस्तू के पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों से लेकर कॉलरिज, एडीसन, वर्ड्सवर्थ, रिचर्ड्स, क्रोचे, इलियट 'नाट्य शास्त्र', दण्डी का 'काव्यादर्श', मम्मट का 'काव्य-प्रकाश', आनन्दवर्द्धन का 'ध्वन्यालोक', अभिनव गुप्त द्वारा ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन', विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण', पण्डितराज जगन्नाथ का 'रस-गंगाधर' आदि इसी प्रकार के आलोचक ग्रंथ हैं । हिन्दी में रीतिकाल के लक्षण-ग्रंथ, श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचन' : शुक्ल जी की 'चिन्तामणि' (विशेष रूप से दूसरा भाग), सुधांशु जी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य-कल्पद्रुम', रामदहिन मिश्र का 'काव्य-दर्पण', बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' आदि इसी प्रकार के ग्रंथ हैं । सदैव से गम्भीर आलोचनाओं में ऐसे ही ग्रंथों का विशेष महत्त्व रहा है । इसी कारण श्याम-सुंदर दास सैद्धान्तिक आलोचना को समालोचना का चिरन्तन स्वरूप मानते हैं । अन्य प्रकार की आलोचनाएँ नवीन युग की उपज हैं ।

(2) आत्म-प्रधान समीक्षा - इसमें आलोचक आलोच्य विषय का विवेचन करते हुए उसमें इतना तल्लीन या उससे इतना विमुख हो जाता है कि विवेचन को छोड़, भाव-लहरी में बहने लगता है । आलोच्य-रचना का विषय उसके भावों का आलम्बन बन जाता है । ऐसी आलोचनाएँ इसी कारण रचनात्मक साहित्य का अंग बन जाती है । इसमें आलोचक विशिष्ट विवेचन-पद्धति को न अपनाकर अपनी रूचि अथवा आदर्श के अनुरूप ही आलोच्य-ग्रंथ की आलोचना कर अपना निर्णय देता है । इस आलोचना के समर्थक यह कहते हैं कि आलोचना के लिए इससे बढ़कर और नया प्रमाण हो सकता है कि कृति हमको अच्छी लगी या बुरी । इसलिए ऐसे आलोचक किसी भी शास्त्र का आधार न लेकर आलोच्य कृति के अपने ऊपर पड़े हुए प्रभावों तथा अपने विचारों का ही सहारा लेते हैं । वह एक प्रकार की सत् विवेक बुद्धि में विश्वास रख अपनी ही रूचि को अन्तिम प्रमाण मानते हैं । अनेक विद्वान इस आत्मप्रधान आलोचना को विशेष उपादेय नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार इससे आलोच्य विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता । हिन्दी में जैनेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि इसी प्रकार के आलोचक हैं । ऐसी आलोचनाओं का सबसे बड़ा दोष यह है कि इन्हें समझने के लिए एक दूसरी आलोचना पुस्तक चाहिए । जब तक इनका भाष्य न हो, तब

तक ये पाठकों की समझ में नहीं आतीं । केवल प्रभाव को समझने में ही जब इतनी कठिनाई है, तब कृति की रचना-विधि या शिल्प-विधान तथा उससे सम्बन्धित अन्य बातों को कैसे समझा जा सकता है ?

(3) व्याख्यात्मक समीक्षा - इसमें आलोचक सिद्धान्तों और आदर्शों को त्यागकर एक अन्वेषक के रूप में कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर अत्यंत सहृदयतापूर्वक उसके आदर्शों, उद्देश्यों तथा विशेषताओं की व्याख्या और विवेचन करता है । इस कार्य में आलोचक का रूप न्यायाधीश का न होकर शुद्ध रूप से एक अन्वेषक का रहता है । वह रचयिता के ढंग, दृष्टिकोण और मत से उदारतापूर्वक अपने विचारों का सामंजस्य स्थापित करके उसकी आलोचना करता है । अत: यह आलोचना न्यायपूर्ण और बुद्धिसंगत होती है । इसमें विभिन्न कलाकारों की रचनात्मक आलोचना होती है, परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से उनका स्थान निर्धारित नहीं किया जाता । इसका सबसे सरल और प्रारम्भिक रूप टिप्पणियों और भाष्यों में मिलता है ।

बाबू गुलाब राय व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक रूप से उपस्थित होने वाली चार अन्य आलोचना पद्धतियों को मानते हैं । (अ) ऐतिहासिक, (ब) तुलनात्मक (स) मनोवैज्ञानिक तथा (द) समाजवादी ।

(अ) ऐतिहासिक आलोचना - इसमें कवि की प्रेरणा का मूल स्रोत ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों में खोजकर कवि पर उनका प्रभाव आंका जाता है, और साथ ही साहित्यिक परम्पराओं के बीच उसकी स्थापना की जाती है ।

(ब) तुलनात्मक आलोचना - इसमें पूर्ववर्ती समकालीन और परवर्ती साहित्यकारों के साथ कवि और उसके साहित्य की तुलना कर उसके महत्त्व को स्थापित किया जाता है । इसमें मूल्य या स्थान निर्धारण की भावना रहने से रूचि-विशेष के अनुसरण के कारण अथवा पक्षपात के परिणामस्वरूप किसी भी कवि के प्रति अन्याय किया जा सकता है । हिन्दी में 'देव बड़े कि बिहारी' विवाद इसी का परिणाम था । यह पद्धति तभी श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है जब आलोचक का दृष्टिकोण पूर्ण वैज्ञानिक हो तथा वह अनासक्त भाव से दोनों पक्षों की समान सहानुभूति द्वारा विवेचन करे ।

(स) मनोवैज्ञानिक आलोचना - इसमें कवि के जीवन और काव्य तथा काव्यांगों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथा कवि के वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभाव को कृति के आधार के रूप में देखा जाता है । इस वर्ग के आलोचक काव्य को मन: स्थिति का चित्रण या अंकन मानते हैं । परन्तु मनोवैज्ञानिक आलोचक विवेचना में इतने खो जाते हैं कि कृति की उपेक्षा हो जाती है । आत्मप्रधान या प्रभाववादी आलोचक तो प्रभाव को काव्यात्मक ढंग से व्यक्त कर देते हैं, पर मनोवैज्ञानिक आलोचक अन्तर्मन की गुत्थियाँ सुलझाने में कृति के रहस्य की ओर से उदासीन रहते हैं । उनकी भाषा-शैली प्रभाववादियों से भी दुरूह होती है ।

(द) समाजवादी आलोचना - इसमें साहित्य को वर्ग-विशेष की उपज मानकर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है । इसमें वर्ग-संघर्ष के आदर्शों और विचारधाराओं को प्रमुखता दी जाती है । यह आलोचना अपेक्षाकृत स्पष्ट होती है । लेकिन समाजवादी आलोचक प्राय: राजनीति के दर्पण में ही कृति को देखते हैं । संघर्ष, द्वन्द्वात्म भौतिकवाद और सामन्तशाही के आधार पर आलोचना करना और साहित्यिकता की उपेक्षा करना प्रारम्भिक प्रगतिवादी आलोचकों का स्वभाव-सा बन गया था । यह आलोचना का ध्वंसात्मक रूप था । अपने खेमे की प्रशंसा तथा दूसरों की निन्दा करना आलोचकों का स्वभाव-सा बन गया था । परन्तु इस आलोचना से एक सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि जनजीवन से दूर रहकर मनमाने ढंग से साहित्य-सृजन करनेवाले लेखक और कवियों की